जड़ की बात

— कुछ निबंध —

लेखक

श्री जैनेन्द्रकुमार

हिन्दी मंदिर, प्रयाग

प्रकाशक
बृहस्पति उपाध्याय,
हिन्दी मंदिर, प्रयाग ।

पहली बार : १६४६
मूल्य
दो रुपया

कुछ—

श्री जैनेन्द्र कहते हैं—"मुझे जो कहना था, सो तो कह ही दिया है, अब भई, प्रकाशक जानें—उन्हे भूमिका कही जाने वाली चीज़ मे क्या लिखना है।" और अब प्रकाशक के नाते यह 'हल्का-बोझा' उतार फैकने भर को ये चन्द पक्तिया लिखनी पड रही है।

'जड़ की वात' शब्द से चौकने की ज़रूरत नही। आखिर श्री जैनेन्द्र क्या 'जड की वात' कहना चाहते है। जो कुछ भी उन्होने कहा है, वह जड यानी मूल रूप पर चोट तो गहरी मार जाता है और फल जो है वह कडुआ भी नही, मीठा भी नही—महज़ सीधा-सादा तत्त्व रूप रह जाता है और यही मोटी-सी बात श्री जैनेन्द्र की 'जड की वात' का परिचय-सा है।

आप शहरो की रेल-पेल में हर रोज़ इधर-उधर भटकते है। बरसो से, नही—हमारी गिनती से पहले से ही—दीन-दरिद्र-दुखी तडफड़ाते देखे जाते है और हम देखकर निकल जाते है, किंतु श्री जैनेन्द्र ने देखा, वह आगे नही जा सके, बढ नही गये, रुक गये। रुककर वह दिल मे जो कुछ कह सके, कह गये—उनके दिल को पढ जायगे आप, तो, आपको 'अपना' पहचानने मे सुख-सा होगा। यही 'जड की वात' की वावत कह सकते है। ऐसा इसमे दिल को टटोलने वाला वहुत कुछ है। जीवन के हर पहलू पर आप विचार करने को रुकेंगे और अपने अन्दर कुछ टटोलेगे। इसीलिए यह छापी भी गई है।

प्रकाशक

लेख-सूची

जड़ की बात

: १ :

जड़ की बात

उस रोज़ देखा कि सड़क के किनारे धूप मे एक आदमी पड़ा हुआ है। हड्डियों का ढांचा रह गया है और मिनटों का मिहमान है। चलती सडक, काफी लोग आ-जा रहे थे। वे उसकी तरफ देखते और बढ जाते थे। मैंने भी उसकी तरफ देखा और बढ गया।

उस दृश्य पर आने से कुछ पहले उसी सड़क पर मैंने देखा कि एक मोटर चलते-चलते रुकी। उसमें से दो व्यक्ति उतरे और नीचे कुछ देखते हुए पीछे की ओर गये। आखिर कुछ दूर चलने पर एक रुपया उन्हे पड़ा हुआ मिला। वह शायद उन्हे मोटर से जाते हुए दीखा होगा। उसके लिए ही वे मोटर से उतरे थे।

कल्पना कीजिये कि उस आदमी की जगह ताबे का एक पैसा पड़ा होता, तो क्या उसको पडा रहने दिया जाता? लखपती भी होता तो शायद उसे देखते ही उठा लेता। रुपये की तरफ उन मोटर वालो की सावधानता देखी ही जा चुकी है। इसी तरह धन का प्रतिनिधि एक भी सिक्का कही पडा हो, तो किसी के देखने की देर है कि वह धूल से उठाकर छाती के पास की जेब मे रख लिया जायगा।

लेकिन आदमी की दूसरी बात है। आदमी मरने के लिए आदमी की ओर से छुट्टी पा गया है। कारण, पैसे की कीमत है। आदमी की कीमत नही है।

दया आदि की बात छोड़िये। किसी को फ़ुर्सत क्यो कि दया में पड़े?

दया का दावा नही हो सकता। मरजी है कि दयावान दया करे। मरजी नहीं है तो दया न करने के लिए किसी को दोष नही दिया जा सकता। अर्थात् यह प्रश्न नही है कि दया आदमी में क्यो नही रही। आप मानते है कि किसी के दिल मे दया होती तो वह उस अधमरे आदमी का कुछ उपचार करता। पर मुझे इससे सन्तोष नही है। उस आदमी के उपचार के लिए दयावान व्यक्ति की जरूरत हो और हममे से हर कोई उस तरह के उपचार मे सचेष्ट न हो, यह स्थिति ही मेरी चिन्ता का विषय है। इस स्थिति मे जरूर कोई बड़ा दोष है। दयालु होने के कारण ही मै उस गरीब के काम आ सकता हू, समझदारी के कारण नही, आज का यही हाल है। उस गरीब को बचाकर क्या होगा ? सैकडो-हजारो मरते है। अजी छोड़ो, अपना काम देखो। इस फेर मे लगोगे, इतने कुछ और कमाई का काम ही न करलो। यह आदमी मर जायगा तो किसीका क्या नुकसान होगा ? इससे समझदारी यह है कि दया मे न पडा जाय।

यह सच ही है और मै इससे सहमत हू। जहा दया और समझ का विरोध हो वहा मै समझ के पक्ष मे हूं। दया कच्ची भावुकता है। समझदारी वह जमीन है जहा पैर टिकता है। हम नही माग सकते कि हर कोई दयावान हो। पर समझदार हर किसी को होना चाहिये। दया में गिरकर लोग फकीर हो गये है। घर-घाट के नही रह गये, बारह बाट हो गये है। कोई भला ऐसे बना है ? सब बिगड़े ही है। महापुरुषता का लक्षण गहराई से देखे तो दया से अधिक अदया (निस्पृहा) है। दया वह उतनी ही पालते हैं जितनी समझदारी में निभती है।

मै अन्तःकरण की सच्चाई से कहता हूं कि दया की प्रेरणा मुझे सच्ची प्रेरणा नही मालूम होती। और अगर उस भूखे, कंकाल इन्सान के वही सड़क की धूल मे पड़े रहने का कारण सिर्फ इतना होता कि आदमी में दया नही रह गई, तो मुझे यह लेख लिखने की प्रवृत्ति न होती। पर आज तो मुझे इसी पर विस्मय है कि समझदारी हमें यह समझाती मालूम होती है कि हमें, जिन्दा आदमियो को, उस मरते हुए प्राणी के झझट में

नही पड़ना चाहिये । समझदार बेशक दयालु नही हो सकता । उसे दयालु नही होना चाहिये । दया का मतलब अहसान भी होता है । बेशक अहसान झूठ है । इससे दया भी झूठ है । पर समझ को तो समझदार होना चाहिये और आज का समझदार आदमी अगर अपनी राह चलता चला जाता है और मरने वाले को सड़क किनारे पडा रहने देता है,तो जरूर कोई बहुत बडी खराबी है । उस खराबी का नाम दया की कमी नही,क्योंकि दया की कमी को अथवा कि उसके अभाव को हम खराबी नही कह सकते । वह क्षम्य बात है । एक तरह से वह उचित बात है । नही, उससे कोई बहुत बड़ी खराबी मै मानता हू। और उसी खराबी को पाना चाहता हू ।

पडा पैसा धूल में से हर कोई उठा लेता है । बच्चे को भी कहना नही पडता, धूल झाडकर वह उसे जेब मे रखता है । जरूरत नही कि हम समझायें—'देखो बेटा, पैसा मिले तो उस पर दया करना, उस बिचारे को धूल मे पडा मत रहने देना । यह सब जरूरत इसलिए नही रहती कि पैसे से उसका हित जुड़ गया है । इसलिए एकदम स्वाभाविक है कि पैसा दीखे और उसे उठा लिया जाय ।

क्या सास लेता आदमी ताबे के एक पैसे से भी कम कीमती है ? मै चाहता हूं कि विज्ञानवेत्ता से पूछकर बता सकू कि मरे आदमी तक में से कितना फॉस्फोरस और कितना क्या क्या मिल सकता है । फिर, मरे और जीते की तो तुलना क्या । चेतन आदमी मे अगणित सम्भावनाए है । आत्मा मे क्या नही है ? इस तरह जब कि मुरदा आदमी भी जाने कितने अनगिनती पैसो से ज़्यादा कीमती है, तब जीते इन्सान का तो पूछना क्या ?

पर, आंखो देखी बात है कि पैसा उठा लिया जाता है; इन्सान को छोड दिया जाता है। उसकी कीमत पैसे की नही है। मै जानना चाहता हूं कि यह अनर्थ कैसे होने मे आया ? क्यों यह जरूरी नही है कि जैसे पैसे की तरफ प्रीति का हाथ बढता है, वैसे ही वल्कि उससे भी अधिक इन्सान की तरफ हमारा प्रेम का हाथ बढ़े ? क्यों यह जरूरी है कि आदमी दया की प्रतीक्षा करे और तबतक उस ओर से अपने को अछूता बनाये रखे ?

क्यो नही यह आदमी के स्वार्थ मे शामिल हो कि वह दूसरे की मदद करे ? उसे दूसरे की मदद ही क्यो समझा जाय ? पैसे को उठाते है, तो यह हम अपनी मदद करते है । लेकिन अंग्रेजी मे भी I help my-self to it—यह वाक्य प्रयोग इन्सान के बारे मे नही होता । वह मदद दूसरे की है इसलिए दया भाव से ही का जा सकती है—यह बेव-कूफी हममे क्यो घर कर गई है ? अगर पैसे को धूल में से उठाकर जेब में रखना उस पर उपकार करना नही है, तो रोगी को सडक पर से उठाकर अस्पताल मे रखने मे भी उपकार की कहा आवश्यकता आ जाती है ? मै मानता हू कि जबतक उपकार और दया की आवश्यकता ऐसे कामो मे मानी जायगी, अर्थात् जबतक उन्हे शुद्ध लौकिक हित और समझदारी का काम ही नही माना जायगा, तबतक हमारी समस्या हल नही होगी । यह हममे से हरएक के लिए स्वाभाविक होना चाहिये कि हम मृतप्राय को जीवनोन्मुख करे । एक आदमी जाता है तो क्या इससे मनुष्य-जाति की पूजी कम नही होती ?

कहा जायगा कि मृत्यु है और रहेगी । मै मानता हू कि उसे रहना चाहिये। मै आदमी की अमरता मे विश्वास नही करता,क्योकि आत्मा की अमरता में विश्वास करता हू। इसलिए सचमुच इस बातपर मुझे दुख नही है कि कोई मर जाता है । पर मरने वाला कैसे मरता है,यह विषय मुझे अतिशय चिन्ता का मालूम होता है । हमे हक नही है कि किसी को द्वेष से, घृणा, क्रोध या निराशा से मरने दें । इससे मानव जाति का बन्धन बढता है । एक भी आदमी हमारी उपेक्षा पर, हमसे तिरस्कार पाकर मरता है, तो वही हमारे माथे पर कलक का टीका बनता है । सचमुच उस बिचारे सड़क के किनारे पड़े आदमी पर दया की ज़रूरत नही है। वह तो मरकर छुट्टी पा जायगा, पर ये जो बडे-बड़े सरकारी दफ्तर है और चुंगी दफ्तर और सभा-समाजे समितिया और महलों मे बसने वाले लोग और बोलने वाले नेता और लिखने वाले लेखक और छापने वाले अखबारी—इन सब पर तरस खाने की ज़रूरत ज़रूर है । वह जो सड़क

पर पडा है, खुद मे कुछ नही है। वह हम सब अहमन्यो की अहंमन्यता की आलोचना है, मनुष्य पर व्यग है। वह हमारी शर्म है। जितनी देर वह जिन्दा लाश वहा पडी है, उतना ही हमारा पाप बढता है। उसके मर जाने से वह पाप कायम होता है।

मानव-जाति की व्यवस्था के काम मे करोडहा करोड रुपया एक जगह जमा होता है और उससे फौज और अस्त्र-शस्त्र, किले, अदालत, दफ्तर और सरकारे बनती है। वह शासन की सत्ताए सुव्यवस्था के लिए है। इसलिए है (यानी होनी चाहिये) कि सब आदमी जिये और एक दूसरे का भला चाहते हुए मरे। अर्थात् वे सत्ताए आदमियो के लिए है। सत्ता के लिए आदमी नही है। पर आज अन्धेर है तो यही कि उस सत्ता की रक्षा के लिए आदमी के अस्तित्व को माना जाय। आदमी यहा इसलिए है कि वह मरे और सत्ता जिये। वह ईंधन है कि सत्तावालो की रोटी पके। अर्थात उनका प्रश्न नही है जिनकी सुव्यवस्था के लिए सब कुछ है, बल्कि मानो व्यवस्था (Law and Order) ही वह देवी है जिस पर बलिदान होना व्यक्ति के व्यक्तित्व की सार्थकता है। सरकार ईश्वर है और आदमी उस महाप्रभु (सरकार) का सेवक होने के लिए है। फलतः सरकारी अमन सब कुछ है और आदमियो का मरना-जीना कुछ नही है। सुशासन के लिए आदमियो को मारा जा सकता है।

यही तो है जहा खराबी है। आदमी एक गिनती हो गया है। वह आत्मा नही है, पवित्र नही है। उसमे अपने आप मे कोई कीमत नही है। दफ्तर चल रहे हो, और सरकार की मशीन चल रही हो। जब वह चीज़ ठीक चल रही है, तब दो-चार या सौ-हज़ार आदमी भूखे और नगे मर जांय तो क्या हुआ ? सुशासन की आरती तो अखड चल रही है, उसका रिकार्ड दफ्तर में बराबर तैयार हो रहा है। यह जो आदमी सडक के किनारे पडे भिनकते हुए मर रहे है, यह तो अपने कर्मो का फल पा रहे है। बाकी हमारा बजट देखो, हमारी रिपोर्टे देखो, हमारे कारखाने में चल कर उसका इन्तज़ाम देखो। तब तुम्हारी आखें खुलेगी

कि सभ्यता और उन्नति कहा पहुंच गई है। उस घृणित और सडी लाश को क्या देखते हो !

हा, मै यही कहना चाहता हू। मै कहना चाहता हू कि कीमत असल को छोड़ गई और नकल पर जा चढी है। आदमी का बचाना असल प्राण का बचाना है, इसी से वह निष्फल है। और पैसे का बचाना यहा सफल है। आज की कीमतो की यही सबसे बडी आलोचना है। नही सवाल है कि तुम्हारी छाती कितनी बडी है। सवाल है कि उस पर लटकी तुम्हारी जेब कितनी भरी है। अन्दर से छाती चाहे पिचकी हो और क्षुद्र हो और उसमे और किसी के लिए समाई न हो, पर उसको ढंकनेवाली जेब अगर गर्म है, और चौडी है और मोटी है, तो सब ठीक है। नही चाहा जाता आज कि तुममे मनुष्यता हो। उसकी जगह तुम्हारे पास धन की पेटी है, तो अच्छा है। अर्थात् मूल्य आज हमारे उलटे है। हीरा आज फिक रहा है और कौडी को बटोरा जा रहा है। तभी तो देखते है कि पैसे पर हाथ लपकता है और आदमी पर लात चलती है।

ऊपर देखा, और वैज्ञानिक सत्य है, कि मुर्दा आदमी भी क़ीमत से खाली नही है। लोग मुर्दी हड्डिया बटोरते और बाहर भेजते है। व्यवसायी उनमे से लाभ लेते और आविष्कारक तथ्य निकालते है। विवेकी के हाथ क्या चीज उपयोगी नही ? विष्ठा भी वहा खाद है और कूड़े-कर्कट मे से कागज़ बनता है। तो भी सडक पर पड़े आदमी से सब आख मोड़कर चले गये, जैसे कि उसको लेकर कोई लाभ का सौदा हो ही नही सकता।

मै कहना चाहता हू कि वह स्थिति सदोष है, जहा आदमी को बचाना भांति लाभ का सौदा नही रह जाता। वह लाभ का सौदा नही । तो हर कोई आदमी उस तरफ नही मुडता है। अगर हम चाहते ऐसे दृश्य हमारे देखने मे न आवे, तो कुछ ऐसा प्रबंध करना होगा भूखे को खाना, प्यासे को पानी और रोगी को उपचार देना हम मे हर एक के लिए लाभ का सौदा बन जाय। पुरानी कीमते तो बदल

गई है, क्योंकि ईश्वर बदल गया है। पहले ईश्वर भक्तवत्सल था और दूसरे जनम में नेकी का इनाम मिल जाता था। इससे नेकी हर-किसी के लिए लाभ का सौदा था। पर अब सिंहासन पर सरकार है और स्वर्ग की जगह तरह तरह की सरकारी पदविया है। स्वर्ग नेकी से मिलता था, पर रायबहादुरी धन से मिलती है। ईश्वर औरो की सेवा से खुश होता था, सरकार अपनी सेवा से खुश होती है। इसलिए पहले का लाभ का सौदा अब आकर टोटे का होगया है। इससे कोई उसके झंझट में नही पड़ता।

ओ., आप मोटर से उतरे है, आप रायसाहब है, अजी आपके कपडे और शक्ल बतलाती है, आइये, आइये, धन्य भाग्य! तशरीफ लाइये। और तुम हटो, निकलो! ये दागीले कपडे लेकर कहा घुसे चले आ रहे हो? क्या—? बीमार! सडक!—तो मै क्या जानू, उस गरीब को उठाने में कपडे मेरे खराब होगे। बस, बस, बको मत, चलो, हटो।

हमारा व्यवहार ऊपर के मानिन्द है। और उससे देखा जा सकता है कि मनुष्य के लिए मनुष्यता लाभ का सौदा नही है, बल्कि किसी कदर अमनुष्यता इस वक्त सौदा है।

क्या कहा? आप नेकी की और उसके नेक फल की और ईश्वर की और जगत की भलाई की बात करते है? आप भोले है। आप ख्वाब मे रहते है। युग बुद्धिवाद का है और आप मे बुद्धि नही है। आप भावुक है। भावुकता के कारण आप सीधी उन्नति की सड़क पर से हट कर किसी सेवा-वेवा के चक्कर मे पडना चाहते है तो पड़िए। पर हम बताते है कि वह लाभ का सौदा नही है।

और मै यही कहना चाहता हू कि जब तक हमारे मानसिक और सामाजिक मूल्य ऐसे नही हो जायंगे कि आदमी का लाभालाभ ही मनुष्यता के पैमाने मे नापा जाय, अर्थात् जब तक आदमी धन से नापा जायगा मन से नही, तब तक हमारी लज्जा और ग्लानि के दृश्य हमारी आंखों के सामने आते ही रहेगे।

वह आलीशान म्युनिसिपैलिटी की इमारत खड़ी है। उसके चारों तरफ बगीचा है और पुलिस के सन्तरी है। लेकिन उसके बाद मरभुखों की पांत अपने दारिद्रय और अपने मैलको खोले पड़ी है। म्युनिसिपैलिटी के महल के लिए क्या यह दृश्य कलंक का नही है? और हम म्युनिसिपैलिटी के उस मेम्बर को सबसे ज्यादा चाहते है, जो सबसे अच्छे कपड़े पहनता और सबसे अच्छा बोलता है। नगर-पिता हम उसे बनाते है, जो सेवा की बकवास करता है कि सेवा का काम न करना पड़े।

पर सच यह है कि मनुष्य का लाभ मनुष्यता का लाभ ही है। इससे वह कुछ भी लाभ का सौदा नही है, जिससे मनुष्यता की पूजी लुटती है। इस बात से आख बचाकर जो लाभ के सौदे के फेर मे पडे है, वे अपने को भुलावा दे रहे है। वह दिन आनेवाला है कि हम देखेंगे संचित धन आदमी का गौरव नही, वह आदमी का कोढ है। और मालदार बनने की इच्छा मनुष्यता की निधि में नकब लगाकर चोरी करने की इच्छा से कम या भिन्न नही है। आज हम अपने लाभ को दूसरे के अलाभ मे देखते है। हमारी जेब मे जो आता है, वह दूसरे ही की जेब मे से तो आता है। किसी को दरिद्र रखे या बनाये बिना हम मालदार रह या बन नही सकते। निपट दरिद्रता की तस्वीर से हम डरते है, तो अपनी धनाढ्यता की आकाक्षा से हमें डरना होगा। नही तो अपने ही राग का दूसरा पहलू हमारी आखो के आगे आने से बच नही सकता। धनी धन में बन्द नही हो सकता। और कितना भी बन्द रहे अपनी आत्मा के दैन्य के अनुभव से वह नही छूट सकता। आदमी लाचार है कि मरे और लाचार है कि जाने कि धन साथ नही जाता। इसी तरह वह लाचार है कि पाये कि धन बटोरना बखेड़ा ही बटोरना है और एक जगह धन का इकट्ठा होना शरीर मे खून के इकट्ठा होकर गिल्टी बनने के समान है।

तो भी, हम भ्रम को पोसते है। क्योकि चारो ओर से उसकी सुविधा है। आसपास हमारे सब के मनो में सोने की छड़ी बस गई है। उससे

आदमी को नापा जाता है। हममे उस रोग का बीज है है। । प‌अग्ला स

अपने को बढकर मान सके, तभी हमे सुख मिलता है। अपने को घटकर मानने को लाचार हो, यही दु ख का कारण है। बस, इस तरह मेरे-तेरे की तराजू मे हम लटके रहते है। वह तराजू है ही राग-द्वेष की। उसकी डंडी अहकार के हाथ मे है। उसके बाट सोने-चादी के है। और बस, उन्ही बाटो पर अपना लाभालाभ तोलकर हम चला करते है। पर तराजू ही वह खोटी है। क्योकि मेरा-तेरा ही गलत है। पडौसी से बडा बनकर जो सुख मैने माना है, वह सुख मेरे हाथ में कहा, वह तो पडौसी की मुट्ठी मे है। अपने को वह छोटा न माने तो मेरे बडप्पन का सुख भी किरकिरा हो जाता है। इससे मेरा असल सुख तो पडौसी को सुखी बनाने मे है। क्योकि यह सुख मुझ से कोई छीन ही नही सकता। इस ढग से देखने पर जो जितना लाभ का सौदा समझा जाता है, वह उतना ही नुकसान का हो जाता है। क्योकि अहकार का फूलना आत्मा का क्षीण होना है। अभिमान आत्मा का शत्रु ठहरा। धन अभिमान की गाठ है। धन की दुनिया मे सबसे बडा सत्य इज्जत है जो कि खुद झूठ है। इज्जत मे तुलनात्मक भाव है। मेरी नाक ऊची होने का मतलब ही यह है कि वह दूसरे से ऊची है। ससार ऐसे ही चलता है। पर मुक्ति ऐसे थोडे ही मिलती है।

मै मानता हू कि परस्पर की सहायता को भलाई की कोटि से उतार कर स्वभाव की कोटि तक हमे लाना होगा। भलाई मानो एक अतिरिक्त वस्तु है। मानो वह कोई उपकार है। यानी हम उस पर गर्व कर सकते है। पर, यह तो बड़ी भारी भूल है। मै जानता हू कि अभिमान का जो उससे एक प्रकार की सेंक मिलती है, उसके कारण बहुधा उपकार कर्म किया जाता है। इसीलिए मै यह कहता भी हूं कि भला करके दूसरे से ज्यादा हम अपना भला करते है। इससे भलाई का श्रेय कैसा ?

शुरू में मैने यही बात उठाई थी कि भलाई जबतक हमसे दूर की वस्तु रहेगी, तबतक काम नही चलेगा। हममे से अपने को भला आदमी

कहने को शायद ही कोई तैयार हो। पर समझदार अपने को सब मानते हैं। हम सब स्वार्थी है कि नही, अपना नफा-नुकसान देखते है। हम सब समझदारी में समान हैं। मै यही कहना चाहता था कि जिसको नेकी कहकर सामान्य से ऊंची कोटिदी जाती है,वह समझदारी(Common-Sense) की बात होनी चाहिये। अर्थात् सामान्य बुद्धि की दृष्टि से नेकी का काम हमारे लिए लाभ का सौदा भी होना चाहिये।

यहा आकर मै मानव-समाज के व्यवस्थापकों को दोष देता हू। वे इन प्रकृत मानवीय मूल्यों के विकास मे सहायक नही हो रहे है। वे जिस अंश मे अपने को शासक मानते हैं और सेवक की भाति व्यवहार नही करते हैं, उतनें ही अंश मे वे सदोष है। उतने ही अंश मे वे झूठी क़ीमतो को मजबूत करते है और असली कीमतों को उभरने से रोकते है। वे इन्सान को इन्सान वनने की ओर प्रेरित नही करते बल्कि उसमे बड़ा वनने, ऊंचा और अमीर वनने की लालसा पैदा करते है।

मै मानता हू कि आदमी मे आदमी के प्रति जो कुत्सा, ईर्षा, उपेक्षा और अवहेलना के भाव देखने मे आते है, वे मूलत: इसी अहप्रेरित जीवन-नीति के पालन करने के कारण बनते है। सत्ता अधिकाश उसी पर खडी होती है। व्यक्तियों मे आपाधापी की वृत्ति को मूल से नष्ट करने मे शासन-सत्ता का हित नही है। इससे जनता के ऐक्य से उसे डर लगता है, क्योंकि जनता का अनैक्य शासन का समर्थन है। शासन का मत्र है, भेद। फूट डालो और राज करो। जन-समाज मे श्रेणियां डाल कर शासन चलाया जाता है। ऊच और नीच, अमीर और गरीव, इस तरह के भद सत्ता के लिए वहुत ज़रूरी है। क्योकि उस भेद के कारण सत्ता अनिवार्य बनती है। दो लड़े तो वीच-बचाव का काम हाथ में लेने के लिए तीसरा आ ही जाता है।

इसी से हितो की अनेकता पैदा करके शासन सत्ताएं मज़वूत बनती ह। सव को अपने-अपने स्वार्थ की पडती है। इस स्वार्थ की वृत्ति को गहरा करके मानव जाति के व्यवस्थापक अपनी कुर्सी को निश्चिन्त बनाते

है। पर यह भी निश्चित है कि इस तरह वह अपनी कुर्सी को कलंकित करते है। भेद पर बनी व्यवस्था टिकने वाली नही । आदमी के भीतर स्वार्थ है तो निस्वार्थता भी है। यानी स्वार्थी आदमी मे ही यह प्रतीति निवास करती है कि दूसरे की हानि पर पलने वाला स्वार्थ मेरा सच्चा स्वार्थ नही है। सच्चा स्वार्थ मेरा ही वह है जो दूसरे के स्वार्थ के साथ अभिन्न है।

इस तरह यह हालत बहुत दिनो तक रहनेवाली नही है कि लोग सडक के किनारे पड़े जीते ककाल को देखते हुए निकल जाय। जल्दी वह समय आ जायगा कि जब अपने व्यवस्थापको से हम पूछेगे कि क्यो तुमसे इतनी चूक हुई कि वह आदमी सड़क पर पड़ा हुआ है ? तुम हकूमत के लिए नही हो,व्यवस्था के लिए हो। तुमको हाथ का हुनर तो कोई आता नही था, तुमको और काम का न जान कर यह काम सौपा गया है। पर तुममें यह पुरानी बू अबतक मौजूद है कि तुम अपने को अफसर समझो और उसमें भूल जाओ ? ध्यान रहे कि तुम सेवक हो, तुम मालिक के विश्वास को खो नही सकते। जो काम तुम्हे सौपा गया है उसमे चूकते हो, तो जाओ, अपना रास्ता देखो।

आप सोचिए कि जब लड़ाई हो रही हो, तो बारूद को बर्बाद करने वाला आदमी कितना गुनहगार है। ईश्वर की सृष्टि में हर आदमी बारूद के गोले के मानिन्द है। उसे बर्बाद होने दिया जा सकता है; उससे मौत का काम लिया जा सकता है, या उससे जिन्दगी का काम लिया जा सकता है। मनुष्य जाति के व्यवस्थापको का न्याय एक दिन इसी तराजू पर किया जायगा कि उन्होने ईश्वर की पूजी का क्या बनाया ? कितना खोया, कितना कमाया ? आदमी आदमी में जितनी एकता, निस्वार्थता बढेगी वह कमाई है। जितना उनमे अनैक्य और स्वार्थ बढ़ेगा, वह हानि है। अन्त मे देखा जायगा कि आदमी का व्यवस्थापकों ने क्या उपयोग किया है ? कितनो की सम्भावनाए नष्ट होने दी या प्रस्फुटित होने दी? कितनों को ईश्वर की समता मे खिलने दिया ? और कितनो को अवरुद्ध

रखा ? आदमी के अन्दर कितनी हिंसा (स्वार्थ) को पोषण दिया और कितना उसमे अहिंसा (सेवा) की शक्ति को जगाया ?

व्यक्ति एक शक्ति का पुज है। व्यवस्थापक का काम है कि उस शक्ति का अधिकाधिक उपयोग करे। उससे इसी का हिसाब मांगा जायगा। यह जो सडक पर आदमी पड़ा है—किस हक से उसे वहा पड़ा रहने दिया गया है ? सदा से तो वह ऐसा न होगा। किसी मा का वह बेटा होगा, कभी जवान रहा होगा, मन मे उमग और आशा होगी। किसी के लिए उसमे प्रेम होगा। चाहता होगा कि मै अपने को दे डालू।... वही आज यहा क्यो है ? उसकी जवानी और उसका प्रेम और उसकी मनुष्यता क्यो हवा मे उडजाने दी गई ? क्यों वह आदमी सफल और सार्थक नही हो सका? क्यो वह यहां सडक पर मनुष्य का तिरस्कार पाकर और अपने मन मे मनुष्य के लिए तिरस्कार भरकर रोग की गाठ के मानिन्द यहा पडा हुआ है ? क्यों जो प्रेम विकीर्ण कर सकता था घृणा फैला रहा है ? कौन उसके मन की जानता है। शायद लोग उससे जितनी घृणा करते है. उससे कही तीव्र घृणा उनके लिए उसमें है। इस तरह उस पडे हुए आदमी को केन्द्र बनाकर यह घृणा का चक्र सारे वायुमण्डल मे फैलता जा रहा है। जो प्रीति बखेरने के लिए ईश्वर की ओर से यहा आया है, वही आदमी जब नफरत की गन्दीली गाठ बनकर आम नडक पर पडा हुआ है, तब हमारे व्यवस्थापक कैसी सुव्यवस्था और शासक कैसा शासन कर रहे है ? क्यो न कहा जाय कि वे कोई व्यवस्था नही कर रहे है, बस ढोंग और आडम्बर कर रहे है !

नये-नये अस्पताल खुल रहे है और फण्ड हो रहे है। अच्छा है कि वह सब हो। पर महाप्रलय और महाव्याधि का बीज जो घृणा है और जिसके कीटाणु उस व्याधि के विषम रोगियों में से फूट कर चारो ओर फैल रहे है—उसकी ओर भी किसी का ध्यान है ? बल्कि मुझे कहने दीजिए कि व्यवस्थापकों के खुद के रवैये से वे कीटाणु बढ़ते और फैलते है। व्यवस्थापक अभिमानी है और अभिमान नीची श्रेणी के

आदमी मे असन्तोष और द्वेष पैदा करने का कारण होता है। इसे तरह व्यवस्थापक अस्वस्थ है और वह अस्वास्थ्य पैदा करता है।

हम न जाने, पर सभ्यता के वैभव के नीचे यह कीडा लगा हुआ है। हम क्या इधर-उधर की बात करते हैं। छोटे-मोटे रोगो के शमन का उपाय करते है। वह करे, पर अपने बीच के उस महारोग को भी तो पहचान लें। वही है जो आदमियो की शक्ति को आपसी सहयोग में समृद्ध नही होने देता और आपसी स्पर्धा मे बरबाद कर देता है। वही है कि जिससे विषमताएं पैदा होती हैं; विवाद, कलह, आन्दोलन और युद्ध पैदा होते हैं; जिसके कारण एक ओर भूख और दूसरी ओर ऐश देखने मे आता है, जिसके कारण एक रक है तो दूसरा राजा है।

मैंने कहा कि मौत में मुझे भय नही। वह तो जरूरी है। पर यदि हमारी व्यवस्था सच्ची हो तो कोई मौत घृणा का सचार करने वाली न हो। बल्कि वह प्रेम का संचार करे। सडक पर पडा आदमी मरेगा तो अपने चारो ओर घृणा का एक वलय छोड जायगा। वह कटुता लेकर जायगा और सबके लिए बददुआ छोड जायगा। मै मानता हू कि वह बददुआ हमारे सिर टूटेगी। न सोचिए कि उसमे शक्ति नही है। रहीम ने कहा तो है कि निर्बल को न सताओ, क्योकि उसकी मोटी हाय है। मुई खाल की सास से क्या लोहा भस्म नही हो जाता? और मै मानता हू कि इस जगत को चलाने वाली मूल शक्ति का नाम प्रेम है। जितनी प्रकार की और शक्तिया है, सब उसकी रूपान्तर है। वही शक्ति आदमी की करनी से रुद्ध और क्षुब्ध होकर घृणा बन जाती है। उसको अशक्त मानना हमारा बड़ा भारी भ्रम है। वह घृणा सघटित होकर जाने क्या नही कर सकती? ताज उससे धूल में गिर गये है और तख्त उलट-पुलट हो गये हैं। क्रान्ति और नाम किसका है! आदमी की छाती के भीतर से, जैसे मानो धरती के गर्भ मे से, हुकार भरती हुई जब वह शक्ति उभर कर फूटती है, तब कौन उसके आगे टिकता है? इससे न समझा जाय कि प्रभुता की ही सत्ता है, त्रास की सत्ता ही नही है। रुंध कर,

इकट्ठा होकर वह कभी ऐसे प्रबल और अतर्क्य वेग से फूटता है कि ठिकाना नही।

शक्ति नष्ट नही होती। नष्ट कुछ नही होता। या तो वह उपयोग में आती है, नही तो चारो ओर को खाने दौडती है। आदमी सचमुच बारूद का गोला है। वह जिन्दगी मे अगर करने लायक कुछ नही कर जाता, तो न करने लायक बहुत कुछ कर जाने को वह लाचार है। काम से नही तो सोच-विचार से करता है। वह या तो अपने जीवन से प्रकाश देता है या फिर अन्धकार और घृणा फैलाता है। प्रत्येक असफल जीवन अपनी जकड़ चारो ओर छोड़ जाता है, जो मनुष्य-जाति के विकास पर बेडी की तरह काम करती है।

हम भोले है अगर मानते है कि सडक पर मरने को खुले पडे आदमी से हमारा कोई वास्ता नही है। हम उसको लाघ कर जा सकते है, यह समझना भूल है। व्यवस्था न समझे कि उस भुखमरे को भूख से मरने के लिए छोडकर वह स्वयं सुरक्षित रह जाती है। हम जीते होकर उसे मरने के लिए छोड दे, पर वह मरकर हम जिन्दो को नही छोडेगा। क्योकि ईश्वर के कानून मे शक्ति नष्ट नही होती और उस मरने वाले की छाती मे जितनी घृणा भर गई थी, वह भी व्यर्थ होने वाली नही है।

घृणा उसी तरह शक्ति है जैसे प्रेम। उलट चला प्रेम घृणा है। दो हजार बरस नही हुए कि ईसा मरा। मरना सब को है। पर ईसा की छाती मे मरते समय जो प्रेम भरा हुआ था, वह क्या व्यर्थ गया ? नही, व्यर्थ नही गया। ईसाइयत उसी का नही तो किसका परिणाम है ? ईसा की स्मृति मे से और उसके उपदेश में से और उसके प्रेम में से वह रौ आई कि मनुष्यता मिलती चली गई और सत्ताएं उखड़ती चली गईं।

हम कहते है कि ईसा की मृत्यु आदर्श थी। विचारा सडक पर मरने वाला क्या यातना पायेगा उसके मुकाबले जो कि ईसा ने पाई। फिर भी ईसा की मृत्यु आदर्श थी और उस भुखमरे की मृत्यु कलंक होगी। कारण, मरते समय ईसा की आत्मा मे से प्रेम के फुहार छूट रहे थे, उधर

वह आवारा मरेगा तो उसमें से घृणा के छीटे ही चारो ओर उड़ रहे होंगे ।

मै चाहता हू कि इसी बात को हम पहचानें । सड़क पर पडे उस भिखारी को उपकार के ख़याल से बचाने के लिए हम न ठहरे । बल्कि देखें कि वह तो आग है, जिससे हमारा दामन बचा नही रह सकता । आग ठहरे तो सब भस्म हो जायगा । इससे हम खुद बचें नही, न व्यवस्थापक को बचने दे । व्यवस्थापक हमारा भूला है । दफ्तर की फाइलो में वह अपने दिल को खो बैठा है । हमारा काम है कि हमउसको चेताए । कहे कि ओ दफ्तर के मेरे भाई, तुम्हारा कलंक सडक पर पड़ा हुआ तुम्हारी शर्म को उघाड रहा है । और नही, तो अपनी शर्म को ढकने का प्रबन्ध तो करो । कहां है तुम्हारा अस्पताल और ऐम्बुलेन्स गाडी ? फ़ौरन् भेजो और फौरन इन्तज़ाम करो । फाइल थोड़ी देर के लिए छोड़ दो ।

इस अपने घर मे लगी आग को बुझाने में एक मिनट दे दोगे तो फिर पीछे तुम्ही चैन से रहोगे । नही दोगे तो फाइलो समेत अपने घर मे ही तुम जल मरोगे ।

जो घृणा और अपमान की आग से फुक रहा है, उसको बुझाने में देर करना उस आग को न्यौता देना है। इसमे उपकार की बात नही है, एकदम स्वार्थ की बात है । सडक पर पडे पैसे को उठा लेने मे एक क्षण हमें सोचने की ज़रूरत नही पडती । वहा हमारा स्वार्थ है । पर उससे कही घनिष्ट स्वार्थ सडक पर पडे आदमी के साथ हमारा वाबस्ता है । एक बार पैसे को तो न भी उठायें, पर आदमी को तो उठाने की सोचना ही पडेगा ।

मै व्यक्ति की दिक्कतें जानता हू । व्यवस्था का दिल कागज़ी है । काम वहा का दफ़्तरी है । व्यक्ति की सद्भावना का असर वहां नही पडता, या वहुत देर से पड़ता है। अकेले आप उस ज़िन्दा लाश को कैसे उठाइये ? मदद किसकी लीजिए ? ऐम्वुलेन्स कहां से मंगाइये ? अस्प-

ताल की परेशानिया और जिल्लत कहा तक झेलिए ? इत्यादि । और यह सब सोच कर मानो मन पर पत्थर रखकर आप उस जीवित मौत को देखते हुए निकल जाते हैं। और हैल्थ-अफ़सर या सिविल सर्जन या और अधिकारी व्यवस्थापक इधर से गुजरते हैं, तो अधिक सम्भव तो यह है कि वह मोटर मे गुज़रे और किसी अरुचिकर दृश्य के लिए खाली ही न हो। या आखो वह दृश्य पड भी पाय तो उनके संवेदन को छू न सके—क्योंकि वह आदमी सरकारी है ।

पर मैं नही जानता कि बिना कष्ट उठाये कोई आग कैसे बुझ सकती है। यह सही है कि कष्ट उसी को उठाना पड़ेगा कि जिस की आख आग देखती है और जिसका मन उसकी झुलस पाता है। और जिसको झुलस लगती है वह अपनी खातिर कष्ट उठायेगा ही। वह फिर उपकार और दया आदि की बातों के लिए खाली हो कहा रहेगा ?

पर जो कहना है वह यह कि व्यवस्था अव्यवस्थित है और शासन वह भ्रष्ट है कि जहा ऐसे दृश्य मिलते है। व्यवस्थापक और शासक अगर पहले इस तरफ ध्यान नही दे पाते है और अपनी-अपनी तनख्वाहों और भत्तो की बात उन्हे उससे पहले सूझती है, तो वे अपने अधिकार के पात्र नही ।

नवम्बर '४१

: २ :

पैसा : कमाई और भिखाई

हमारे घरो मे बच्चा कभी पढ़ने के बजाय खेलता है तो श्रीमती गुस्से में आकर कहती है "दुष्ट, पढता क्यों नही है ?"। वही गुस्सा स्थायी होने पर दुश्चिन्ता का रूप ले लेता है। तब मा कहती है, "मेरा क्या, खेलता रह, ऐसे तू ही आगे भीख मागता फिरेगा। पढेगा-लिखेगा तो हाकिम बनेगा, नही तो दर-दर भटकेगा।"

लड़का भीख मागने या पढ़ लिख कर अफसरी करने के अन्तर को न समझता हुआ झल्लाकर कह देता है कि "हां, हम मांगेंगे भीख।"

मा कहती है, "हां, भीख ही तो मागेगा। इन लच्छनो और तुझसे क्या होगा ? बेशरम, बेशऊर, दुष्ट!!" साथ दो एक चपत भी बच्चे की कनपटी पर रख देती है।

इस पर बालक का नियम बधा हुआ नही है कि वह क्या करेगा। कभी रोकर बस्ते मे मुह डाल कर बैठ जायगा, तो कभी मुंह उठा कर चलता बनेगा और बस्ते को हाथ न लगायेगा। कभी विरोध में भाग कर धूप मे और भी जोर शोर से गुल्ली-डंडा खेलने लग जायगा। और कभी... आशय, उसके मन का ठिकाना नही है।

आइये उस भिखमंगे की बात को ही यहां समझे जिसके होने की सभावना से मा डरती और बालक को डराती है। उस दिन अखबार मे पढा कि एक आदमी पकडा गया। वह तरह तरह के क़िस्से कहकर स्टेशन पर यात्रियो से मागा करता था। जरूर उसमें अभिनय की कुशलता

होगी। विद्यार्थी अपने को कहता था, तो विद्यार्थी लगता भी होगा। इसी तरह अनाथ बालक, संकटापन्न पिता, भटका यात्री, सम्भ्रान्त नागरिक आदि-आदि बता कर सुना गया कि वह हर रोज खासी 'कमाई' कर लेता था। उसके डेरे पर पाच हज़ार की जमा मिली!

वह ऐसे पांच हज़ार जमा कर पाया। सुनते हैं दस-बारह वर्षो से वह यह व्यापार कर रहा था।

हमारे पड़ौसी ने पाच वर्ष व्यापार किया और ढाई लाख रुपया पैदा किया।

पर भिखारी जेल मे है और पड़ौसी लाला रायबहादुर है। कारण, भिखारी की कमाई कमाई न थी और लाला की कमाई कमाई है। भिखारी ने ठगा और लाला ने कमाया। तभी पहला कैदी है और लाला मजिस्ट्रेट की कुर्सी पर है। यानी भीख और कमाई मे फर्क है।

अगर हाथ फैलाने वाले ने अपने पीछे कुछ जोड़ रखा है, तो उसका हाथ फैलाना धोखा देना है। तब कानून उसे देखेगा।

सज़ा मिलने पर जब हम ऐसे आदमी के बारे में सोचते है, तो दया नही होती, गुस्सा आता है। हम उसे धूर्त (दूसरे शब्दों में, चतुर) मानते है। हमें उत्सुकता होती है कि जाने उसने कैसे इतना रुपया जमा कर लिया होगा। बदमाश अच्छा हुआ पकड़ा गया और सजा मिली। हो सकता है कि उसकी सजा पर हमारे सन्तोष का कारण यह हो कि हमारी भरी जेब पर से इसतरह एक खतरा दूर हुआ। और झुझलाहट का यह कारणहो सकता है कि पांच हज़ार रुपये उसके पास क्यो पहुंचे, जो कही हमारे पास आते!

अब दूसरे भिखारी की कल्पना कीजिये जो सचमुच असहाय है। जितने दाने उसके हाथ पर आप डाल देंगे, उतने से ही वह अपनी भूख मिटाने को लाचार है। इस आदमी को पकड़ने के लिए क़ानून का सिपाही कष्ट नही करता; क्योंकि आसानी से लात घूसे मार कर या मनुष्यता हुई तो धेला-पैसा फेंक कर उसे अपने से टाला जा सकता है।

अब मन की सच बात कहिए। वह चतुर ठग और यह निपट भिखारी, दोनों मे आपको कौन कैसा लगता है? चतुराई के लिए आप एक को जेल देंगे और मोहताजपनके लिए दूसरे को दया। यानी एककी व्यवस्था करेंगे, दूसरे को उसके भाग्य पर छोड़ेंगे। सच पूछिए तो दीन भिखारी से आपको कष्ट और अमीर भिखारी से आपको गुस्सा होता है। अर्थात् जो ठगी से अपनी सहायता कर लेता है, वह आपको ताहम आदमी मालूम होता है। पर जो उतना भी नही कर सकता और निपट आपकी दया पर निर्भर हो रहता है, वह आपकी आंखों में उससे गया बीता है। मालूम हो जाय कि यह जो सामने आपके हाथ फैला रहा है, झोली मे उसी के हजार रुपये है, तो आप उसे गौर से देखेगे, उसमें दिलचस्पी लेंगे। अपनी कक्षासे उसे एक दम अलग और तुच्छ नही मानेगे।

पर वह भिखारी जो काया से सूखा है और पेट का भूखा, आप चाहेगे कि वह आपकी आखों के आगे पड़ ही जाय, तो जल्दी से जल्दी दूर भी हो जाय। आप यथाशीघ्र पैसा फेककर या रास्ता काटकर उससे अपने को निष्कंटक बना लेना चाहेगें। अर्थात् झूठ-मूठ के भिखारी को आप सह सकते है, सचमुच के भिखारी को नही सह सकते। दूसरा हमे अपनी ही लज्जा मालूम होती है।

अब एक बात तो साफ है। वह यह कि पैसा चाहिए। पेट को अन्न चाहिये और अन्न यद्यपि धरती और मिहनत से होता है, पर मिलता वह पैसे से है। पैसा पहना-नही जाता, खाया नही जाता, उससे किसी का कुछ भी काम नही निकलता। तो भी हर एक को हर काम के लिए चाहिये पैसा ही। यानी पैसे में जो तांबा है, उसे खाओ तो चाहे वह किसी कदर जहर ही साबित हो, फिर भी पैसे की कीमत है। ऐसा इसलिए कि वह कीमत उस (ताबे) की नही, हमारी है। हमने वह कीमत दी है, इससे हमतक और हम पर ही वह आयद है। पैसा क्या रुपया फेंकिए कुत्ते के आगे, वह उसे सूघेगा भी नही। रोटी डालिए, तो आपकी इस उदारता के लिए जाने कितनी देर तक अपनी पूछ हिलाता रहेगा। यानी,

फ़र्जी के सिवा रोटी से अधिक पैसे में मूल्य नही है ।

पैसे के मूल्य को हम कैसे बनाते हैं और हमी उसे कैसे थामते हैं, यह एक दिलचस्प विषय है । लोग कहेंगे 'अर्थ-शास्त्र' का, पर सच पूछिए तो यह काम-शास्त्र का विषय है । काम का अर्थ यहां कामना लिया जाय। कामना के वश व्यक्ति चलता है । इस तरह पैसा असल मानव-शास्त्र का विषय है । व्यक्ति के मानस से अलग तांबे के पैसे की अठखेलियों को समझना बिजली के बटन से अलग उसके चिराग को समझने जैसा होगा । कठपुतली खेल कर रही है, नाच-कूद दिखाती है, पर पीछे उसके तार थमे है बाजीगर की उगलियों मे । पर वह तार हमे दीखता नही, बाजीगर दुबका है और सामने कठपुतलियो का तमाशा दीखता है । बच्चे तमाशे मे मगन होते है, पर समझदार तमाशा देखने या दिखाने के लिए कठपुतलियों से नही बाजीगर से बात करेंगे । पैसे के बारे मे भी यही मानना चाहिए । उसका व्यापार आदमी के मन के व्यापार से वैसे ही दूर है, जैसे आदमी की उंगली से कठपुतली या बिजली के बटन से लट्टू दूर है । वीच का तार दिखता नही है; इसलिए वह और भी अभिन्न भाव से है, यह श्रद्धा रखनी चाहिए ।

पर कही यह अर्थ को लेकर अनर्थ व्यापार न समझा जाय । हम शास्त्रीय अर्थ नही जानते । किंतु देखा है कि अर्थ-शास्त्र सीखने वाला उस अर्थ-शास्त्र को सिखाने वाला ही बनता है । उस शास्त्र-ज्ञान के कारण कभी अर्थ-स्वामी तो बनता हुआ वह पाया नही गया । अपने अर्थ-शास्त्र को पढवाने के लिए ऊपर का अर्थ-स्वामी ही अर्थ-शास्त्रियों को अपने अर्थ में से वेतन देने का काम जरूर करता रहता है । इससे प्रकट है कि अर्थ का भेद अर्थ-शास्त्र में नहीं है, अन्यत्र है ।

थोडी देर के लिए पैसे का पीछा कीजिए । इस हाथ से उस हाथ, उस दूसरे से फिर तीसरे फिर चौथे, इस तरह पैसा चक्कर काटता है । उस वेचारे के भाग्य में चकराना ही है । कहीं वह बैठा कि लोग कहेंगे कि क्यों रे, तू बैठा क्यों है, चल अपना रस्ता नाप । किन्तु पैसे को अपना

यात्रा में तरह-तरहके जीव मिलते हैं। एक उसे छाती से चिपटाकर कहता है कि हाय-हाय, मेरे पैसे को छेड़ो मत,मेरी छाती के नीचे उसेसोने दो।

पर, पैसे बेचारे की किस्मत में आराम बदा हो तो सभी कुछ न रुक जाय। इससे यदि उन प्रेमी का प्रेम पैसे की काया को छोड़ना नहीं चाहता, तो उसका बड़ा दुष्परिणाम होता है। यह तो वही बात है कि खून हमारे बदन में दौड रहा है और कोई अवयव कहने लगे कि तू कहा जाता है, यही मेरे पास रुक जा। फोडे जो बदन में हो जाया करते है, सो क्यो ? किसी खास जगह खून की गर्दिश ठीक नही होती, इसी वजह से तो। यह जुदा बात है कि फोड़े भी होते असल में शरीर की स्वास्थ्य-रक्षा के निमित्त है। ऐसे ही कौन जाने, समाज के शरीर में कंचन की काया के प्रेमी भी किसी अच्छाई के निमित्त बनते हों। पर फोड़ा फूटता है, और कंचन-प्रेम भी टूटता ही है। ऐसे, पैसा बीच में थक कर बेचारा सास लेने को रुके, तो बात दूसरी; वैसे किसी के आलिगन में गाढी नीद सोने की उसे इजाजत नही है। इस निरन्तर चक्कर से बेचारा पैसा घिस जाता है, मूरत और हरूफ उस पर नही दीखते, तब मुंह छिपा कर जहां से आया वही पहुचता है कि फिर उसे पुनर्जन्म मिले।

अभी थोड़े दिन पहले रानी का रुपया खिच गया। अब आपकी गद्दी के नीचे कोई रानी का सिक्का सोया मिल जाय, तो क्या आप समझते हैं उसे सोलह आने को कोई पूछेगा ? अजी, राम का नाम लीजिए। सिक्के में कीमत थोड़े थी। जैसे डाली गई थी वैसे वह कीमत खीच ली गई। अब रानी के सिक्के क्या हैं, ठनठन गुपाल है। बस मूरत देखिए और मन भरिये।

इस पैसे की यात्रा का वर्णन कोई कर सके, तो बडा अच्छा हो। शास्त्रीय प्रतिपादन नही,वह तो आडबर है और बेजान है। वर्णन,जैसे कि अपनी यात्रा का हम करते है। यानी सचित्र और जीवन की भाषा में। मैं मानता हू कि पैसे के तथ्य का किसीको अनुभव हो कि और उसके पास कल्पना भी हो, तो वह पैसे की असलियत पर एक अत्यन्त सुन्दर उपन्यास

हमें दे सकता है । पर, पैसे के साथ दुर्भाग्य लगा है। वह कमबख्त है शक्ति। जिसने भी उस शक्ति को समझा, वही उस शक्ति को बटोरने मे लग गया । अब कहा जायगा कि इस जीवन मे शक्ति का संग्रह भी न किया जाय तो आखिर किया क्या जाय ? कुछ कहेंगे, धर्म का संग्रह किया जाय। और सच, कुछ जैसे सामान बटोरते है वैसे पुण्य भी बटोरते देखे जाते है। पर हाय, धर्म का संग्रह ही किया जा सकता, तो क्या बात थी ! तब ऋषि कुटी न बना कर गोदाम बनाते । अरे, वह तो सोने की जगह सास के संग्रह के उपदेश जैसा है। अर्थात् अपने को लुटाओ, इसीमे धर्म का अर्जन है । अब इस बात को कोई कैसे समझे और कैसे समझाये ? पैसा खरचे बिना कभी जुडता है ? और जो रुपया छोड़ सकता है, वही अशरफ़ी जोड़ सकता है । यह क्या हम रोज़ आंखो नही देखते कि जिसकी जहा मुट्ठी बंधी कि वह मुट्ठी उतनी ही भर रह गई । रुपये पर मुट्ठी लाने के लिए, पैसे पर उसे नही बंधने देना होगा । अर्थात् लाखों की कमाई हज़ारो लगाये (गँवाये) बिना न होगी । इसी तरह धर्म की कमाई धन उजाड़े बिना न होगी । बात यह है कि धर्महै प्रीति । प्रीति और शक्तिमें शत्रुता है । शक्ति के ज़ोर से और सब हो जाय, प्रीति नही होती । इसलिए जो प्रीति कमाये, वह शक्ति खो दे ।

पर यह मैं क्या कह चला ? कह रहा था कि पैसे का उपन्यासकार चाहिये। वह पैसे की काया पर न रीझे। न उसकी शक्ति पर जूझे। बल्कि उस के सत्य मे ही वह तो अपनी आख रखे । पैसेकी शक्ति दिखलायी तो भला क्या दिखलाया ? यह तो माया दिखलानी हुई । उस पैसे की अकिंचित्करता दिखलाई जा सकेगी, तभी मानो उसकी सत्यता प्रगट होगी । जैसे कि आदमी प्रेम मे अपने को खोकर पाता है, वैसे ही निकम्मा दिखला कर पैसे के असली मूल्य को पहचाना और बताया जा सकेगा ।

मेरे हाथ में मानिए कि रुपये का एक नया सिक्का आया । वह कहां से आया ? मैंने कुछ मिहनत की, उस मिहनत का किसी के अर्थ मे उप-

योग हुआ। उपयोग के रास्ते मेरी मिहनत में से अपना रुपया, और ऊपर कुछ और भी अतिरिक्त, पाने की उन्हें उम्मीद है। इसलिए अपनी मिहनत का फल उन्हे देकर यह रुपया मैंने पा लिया। अब आता हूं घर। वहा श्रीमती जी बोली कि माथे की बिन्दी को कब से कह रही हू, लाये? यानी अगले दिन मेरे हाथ से वह सिक्का बिन्दी वाले के यहा पहुच जाता है।···इसी तरह हम कल्पना कर सकते हैं कि कैसे वह आदमियो की आवश्यकताए पूरी करता हुआ परस्पर के आदान-प्रदान का काम चलाता है।

अब परस्पर का आदान-प्रदान पैसे के माध्यम से होता है, पैसे के उद्देश्य से नही होता। प्रेम में व्यक्ति अपने सर्वस्व का दान कर देता है। प्रेम वह है, जहा देनेके जवाब में लेने की भावना ही नही। अर्थात् मै यहा चादी के एक सिक्के की बात कर रहा हू; प्रेम के क्षण मे लाखों निछावर हो गये हैं। अर्थात् पैसा जो यहां से वहा घूमता फिर रहा है, वह अपनी ताकत से नही, बल्कि हमारे मन की ताकत से। यह नही कि धन में ताक़त नही है। ताक़त तो है, पर रेल के इंजन-सी ताकत है। अब इजन क्या अपनेआप चलता-फिरता है? यह कहना कि पटरी पर इंजन चलता है, ठीक है। पर हिन्दुस्तान की रेलों का इन्तजाम जिन सरकारी मेम्बर साहब के ऊपर है, सैकड़ो-हज़ारों इजन और उनके चलाने वाले और उनके कल-पुर्जे समझनेवाले अपनी हरकत के लिए उनके तावे हैं। और वह मेम्बर महाशय इजिन पर नही, बल्कि कुछ और ही गहरी नब्ज पर निगाह रखते हैं। पर. . सवारी गाडियां और मालगाड़िया जाने कितने हज़ार व लाख टन सामान और इन्सान को खीचती हुई दिन-रात इधर से उधर आ जा रही हैं। अपने दफ्तर में बैठे मेम्बर महाशय की क्या कहिए, उस रोज उनसे डबल वज़न का आदमी इंजन के नीचे आ गया था। उसका हाल अपनी आखो क्या आपने देखा नहीं था? अजी, आदमी और आदमियत का तो वहा पता-निशान बाका नही रह गया था, यहा वहा बिखरा मास ही दीखता था।. . .हां यह है, परदूसरी बात भी है। इजनकी ताकत सच है, पर उन मेम्बर साहब की ताकत उस

सच का भी अंदरूनी सच है। उन्ही की कलम तो थी जिससे पचास इंजन बेचारे बक्स मे बन्द होकर विलायत से हिन्दुस्तान लदे चले आये और चालीस एंजन, जो मानते थे कि हम में अभी सिसकने लायक कुछ जान है, उनकी एक न सुनी गई और, अंजर-पंजर तोड़कर उन्हें लोहे के ढेर पर फेंक दिया गया।

चाँदी का सिक्का जैसा सच है, लोहे का एंजन भी वैसा ही सच है। फ़र्क इतना ही है कि सिक्का छोटा और हलका होनेसे सचाई मे इंजनकी निस्बत बड़ा और भारी है। इंजन इतना बोझलहै कि उसीसे वह सचाईमें हलका है। तभी तो चांदी के रुपये और सोने के पौंड से कागजी नोट क़ीमती होता है। कारण, वह चाँदी-सोने से हलकी और सस्ती वस्तु कागज़ का बना है। अर्थात् नोट मे अपनी असलियत उतनी भी नहीं है, जितनी सिक्के मे है। लगभग अपनी ओर से वह शून्य है। हम उसमें डालते है, तभी कीमत की सचाई उसमें पड़ती है। इसीलिए जैसे-जैसे उन्नति होगी, कागज़ी सिक्का बढ़ेगा, धातु का सिक्का बेकार होता जायगा। सिक्के मे कीमती धातु की ज़रूरत अविश्वास के कारण है। यानी वह झूठी कीमत है। फिर भी वह कीमत इसलिए है कि सच्ची क़ीमतो का अभी निर्माण नहीं हो पाया है। उदाहरण लीजिये,दस्तावेज़। बचन झूठा है, तभी दस्तावेज़ की सचाई आती है; क़ौल सच्चा हो, तो दस्तावेज़ बेकार हो जाना चाहिये।

इस सब का मतलब यह कि पैसे की कीमत और शक्ति आदमी की भावना की कीमत और शक्ति से अलग नही है। अर्थ-शास्त्र के नियम जीवन-शास्त्र के नियम से भिन्न नही है। यदि वे भिन्न से लगते है, तो इस कारण कि मनुष्य ने कामनामे अपनी स्वतन्त्रता देखी है, जब कि वह स्वतंत्रता निष्कामता मे है। जो वह चाहता है और जिसको सुखका नाम देता है, समझता है उसकी कुंजी 'स्वर्ण' है। जैसे प्यासा हिरन रेगिस्तान पर की लू की झलझलाहट को पानी समझता है। पर स्वर्ण में सुख होता, तो स्वर्णाधिपो के पास वह दिखाई देता। किन्तु, पूछ कर

देखिये। मालूम होगा कि लाख के बाद करोड़ और करोड़ के बाद अरब पर आंख गड़ाये वे भागे आ रहे हैं, तो इसीलिए कि लाख मे जो समझा था वह नही मिला और फिर करोड़ मे जो समझा वह करोड में भी नही मिल रहा है।

हमने ऊपर देख लिया कि सिक्के में अपने आप में दम नही है। अगर एक में दम नही है, तो करोड में भी नहीं हो सकता। जिसमें आन्तरिक कुछ है ही नहीं, उसके पहाड़ जैसे ढेर मे भी कुछ कहां से आ जायेगा ? मरीचिका में कुछ है तो यही कि वह मृगतृष्णा को प्यासा का प्यासा ही रखती है। धन भी जमा होकर अपनी इस सचाई को उजागर कर देता है कि मुझमें अपना कुछ नही है। मेरी कायामें तुम्हारी ही तृष्णा भरी है। तुम अपनी ओर से तृष्णा न डाल कर मुझ में कोई दूसरी भावना डालोगे, तो फिर वह भी मेरी सचाई हो सकेगी। पर तृष्णा की राह से लोगे, तो सिवाय इस तृष्णा के मै तुम्हे और क्या लौटा सकूगा ? मुझसे तुम्हे सुख नही मिलता, इससे मुझे प्यार करके भी तुम मुझे कोसते हो। पर कोसो मत, क्योकि मै खोखला हू। तुम जो भरते हो, उसीसे मै भर जाता हूं। इससे मै इस लायक नही हू कि मुझसे तुम कुछ चाहो या मुझे ही चाहो। क्योकि तुम्हारी ही भूखी चाह मै तुम्हारे आगे कर सकता हूं। इससे तुम्हें सुख नही होता, नही होगा। पर तुम मानते हो कि अभी मेरे परिमाण में कमी है, इससे मुझे और जोड़ते हो। मुझे ही जोड़ते, फिर भी मुझे ही कोसते हो। मै बताता हू कि मै अन्दर से रीता हू। मेरा सारा ढेर रीता है। जो तुम चाहते हो, वह मै नही। मै उसका द्वार हो सकता हूं और प्रार्थना है कि मुझे तुम द्वार ही समझो, अधिक न समझो। दरवाजे को ही जो तुम मंजिल समझोगे, तो दरवाजा इसमे क्या करेगा ? मंजिलकी तरफ वह तुम्हें बढा सकता है। पर तभी, जब तुम उससे पार जाओ"

आज के जमाने में बुद्धि इसी भूल में पड गई है। लिफाफे को उसने खत समझा है। इससे खत नही पढती, लिफाफ़े को ही देखती समझती रह जाती है। इसीसे शाखा-विज्ञान बहुत बन गये है, और बीच का मेरुदंड सूखते रहने को छोड दिया गया है। यानी विद्याएं बहुत हो गई

है, पर जो इन सब विद्याओं का आधार होना चाहिए, अर्थात् 'सर्व-भूतात्मरूप ब्रह्म' वह उपेक्षा मे रह गया है। परिणाम यह है कि अवयव सब पकडते है और हृदय को सब छोडते है। इस प्रकार की खडित विद्या क्या अविद्या नही है? क्या उस अविद्या का ही परिणाम आज के युद्ध की भीषणता नही है? -

पर हम दूर आ गये। बात कमाई और भिखाई से शुरू हुई थी। कमाई किसे कहते है? धन अपने चक्कर पर आ जा रहा है। जैसे नदी बहती है; कुछ उसमे नहाते है, कोई उससे खेत के लिए पानी लेते है, कुछ उसको देखकर ही आनन्द प्राप्त करते है। नदी अनेको के अनेक प्रयोजन पूरा करती हुई समुद्र मे मिलन के लिए बहती ही चली जाती है। ऐसे ही धन अपने बहाव मे सब के प्रयोजनो को पूरा करता हुआ चलते चले जाने के लिए है। इस प्रक्रिया मे कमाई क्या है? सच कहू तो उस कमाई का मतलब मेरी समझ में नही आता। हरिद्वार की गगा प्रयाग आई; जो पानी हफ्ते पहिले हरिद्वार था, अब प्रयाग आ गया। क्या इस पर प्रयाग यह सोच सकता है कि हरिद्वार से हमने इस हफ्ते गगा के इतने पानी की कमाई कर ली? प्रयाग ऐसा नही सोच सकता।

पर हम ऐसा सोच सकते है। क्योकि हम बुद्धिमान है। मेरी तिजोरी मे आज दस हजार रुपये है। बाजार मे बैठा था, तब गाठ मे क्या था? यही सौ एक रुपल्ली होगे। तीन साल मे दस हजार रुपये की मैंने कमाई की! वाह, क्या बात है। मै अपने से खुश हू, कुनवे वाले खुश है, और सब मानते है कि मै होनहार और कर्मण्य हू। यह कमाई है।

अब चलिए, मैंने तो बाजार मे तीन साल लगाये और घूमा फिरा और मिहनत की। पर वह देखिये, क्या भाग्य का सिकन्दर आदमी है! लड़ाई आई कि रग मे दो दिन में पन्द्रह हजार पैदा किये! हल्दी लगी न फिटकरी और देखते-देखते मालामाल हो गये! लक्ष्मी की लीला तो है। अब सब उस भाग्य के बली और लक्ष्मी के वरद पुत्र की ईर्षा करते है। यह कमाई है।

कमाई, जिसकी वह समझी जाती है, उसकी जेब (बैंक हिसाब) में आकर पड़ती है।

इस पर से दो मूल सिद्धान्त समझे जा सकते हैं:—

१—कहीं से चलकर जो रुपया हमारी जेब या तिजोरी में आये वह हमारी कमाई है।

२—शर्त यह कि उसमें हमें जेल न हो, यानी वह वैध हो।

अर्थात् वह सब रुपया हमारा कमाया हुआ है, और उस सब रुपये पर खर्च करने का हमारा हक है, जो इस तरह से या उस तरह से, इस जेब से या उस जेब से, हमारी मुट्ठी तक आ जाता है। सीमा यह कि इस तरह खर्च करनेवाला खुले समाज मे हो, बन्द जेल मे न हो।

सीमा की शर्त बहुत जरूरी है। कमाई और ठगाई में वही भेद डालने वाली रेखा है। जेल पा गये, तो तुम्हारी कमाई कमाई नही मानी जायगी। जेल पाने से बचे रहे, तो बेशक तुम्हारी कमाई कमाई है। और तब अपने धन के परिमाण में ही तुम्हारी ऊंचाई की नाप होगी।

यह तो हुआ, पर भीख से पैसा पाने की विधि को मैं कहा रखू? उसमे भी पैसा आता है और जेल बची रहती है। भिखारी जेल पा गया तो गया। पर जेल के बाहर भिखारी के पैसे को कमाई का पैसा कैसे न माना जाय, यह मेरी समझ में किसी तरह नही आता है।

आप कहेंगे मेरी भाषा में व्यग है। पर मैं सच कहता हू कि कमाई अगर सच्ची हो सकती है तो वह भीख की ही कमाई है, नही तो कमाई शब्द ही एकदम झूठ है।

पैसा मेरी जेब में आना कमाई है। बेशक सिफ्त यह कि जेल मुझे न मिले। अब सवाल है कि दूसरे की जेब से, या मिहनत से, मेरी जेब में पैसा आता कैसे है? इसके कई तरीके हैं।

पहला गुण लोभ कहा जा सकता है। इसलिए अपनी चीज के लिए दूसरों में लोभ पैदा करना कमाई बढ़ाने का पहला असूल है। विज्ञापन और बिक्री की कला यही है। लोभ हुआ कि काम जागा। तब उस

जेब से पैसा निकल कर आपकी जेब मे आने से रुकेगा नही।

दूसरा है ग़रज़। अकाल है और लोग भूखे है। सबको अन्न चाहिए। अब जिसके पास अन्न है, उसने दाम चढा दिये। इस तरह खिंच कर पैसा आ गया।

तीसरा है डर और अविश्वास। आगे का क्या ठिकाना, जाने कब मौत आ टूटे। तब बाल बच्चों का क्या होगा? आग है, रोग है, चोर-डाकू है। इससे लाइये हमारे पास बचा-बचा कर जमा करते जाइये। हम उपर से ब्याज और जाने कितना और देगे। यह भी पद्धति है जिसमे उपकार और कमाई दोनों साथ होते है।

या वह है जिसका नाम इडस्ट्री (भीमोद्योग) है। हजारो मेहनती और भीमाकार यत्र। मेहनती मेहनत करते है, यत्र चलता है,और कमाई मोटी होती है। इसका रहस्य उद्योग की भीमता में है। यानी हजारो का श्रम सुंत कर एक केन्द्र में पड़ता है। एक की एक-एक बूद बचे तो हजारो हो जाती हैं। और बूद-बूद से घडा भरता है तो हजार-हज़ार बूदों क्या नहीं होता होगा।

या ज़ोर-ज़बरदस्ती है, लेकिन उसके पीछे कोई कानूनी बल चाहिए। जैसे ज़मीदारी, अफसरी इत्यादि।

एक तरीका जो बारीक है, उसका नाम सट्टा है। वह खेल सम्भावनाओ पर चलता है। उसमें भी तृष्णा उकसा कर जेबो का पैसा निकाला जाता है। और वह गिनी चुनी जेबो मे बह आता है।

एक आम तरीका है, जिसको नौकरी कहते है। इसमे नौकर पैसा खींचता नही, पैसा पाता है। यानी उसके इस्तेमाल से पीठ पीछे बैठा हुआ दूसरा कोई आदमी, जो पैसा खीच रहा होता है, वह नौकर को ज़िन्दा और काम लायक रखने के लिए उसे खाने-पीने को कुछ देता रहता है।

इनके बाद करुणा के ज़ोर से भी किसी जेब से पैसा निकलवाया जा सकता है। दान और भिक्षा मे अधिकतर यही वृत्ति रहती है।

रुपया फिर प्रीति के नाते भी हस्तान्तरित होता है। जैसे मित्र को

सहायता, परिवार का पालन आदि। वहा रुपये के लेन-देन मे किसी एवज का भाव नही रहता।

इन सब पद्धतियों में रुपये का आना-जाना जहां प्रेम के कारण होता है, उसको मैं सब से उचित समझता हूं। उसमे न देने वाले को देने का, न लेने वाले को ही अपने लेने का पता रहता है। मानो अपने सम्बन्धों के बीच पैसे की वहा किसी को सुध ही नहीं है। पैसे का यह आदान-प्रदान बन्धन नही पैदा करता, दोनों ओर आनन्द की ही सृष्टि करता और उनके बीच घनिष्ठता लाता है। पर, इस कोटि के आदान-प्रदान में कमाई शब्द काम मे नही आ सकता। पिता ने पुत्र को सौ रुपये दिये तो इनमे पिता को सौ का घाटा हुआ और पुत्र को सौ का लाभ हुआ, यह नही कहा जा सकता। दूसरे की जेब से निकल कर अपनी जेब में आना कमाई है, पर वहां दो अलग-अलग जेबें ही नही है।

सच पूछिए तो मैं वही स्थिति चाहता हूँ, जहा कमाई खत्म हो चुकी है। जहा जीवन की आवश्यकताए ही पूरी होती हैं। न आने वाले पैसे के प्रति लोभ है, न उसके आने में चतुराई का प्रयोग या अहसान का अनुभव है।

उससे हटकर कमाई की जो और कोटिया है, उनमें करुणा की प्रेरणा से जहां पैसा आता जाता है, वह श्रेष्ठतर मालूम होता है। वह है दान, भिक्षा। करुणा प्रेम से भिन्न है। करुणा में बंधन है और आत्मा पर दवाव है। उसमें दयावान और दया-पात्र में कक्षा-भेद हो जाता है। यानी उससे दो व्यक्तियो के बीच समत्व-सम्बन्ध का भङ्ग होता है। इमसे करुणा-प्रेरित दान अन्त में सामाजिक विषमता और जडता उत्पन्न करने का कारण होता है। उससे दोनों ओर आत्मा को प्रसार और विस्तार नही प्राप्त होता, वल्कि कुठा और सकुचन होता है। मानो भिक्षा देने वाला भी भिखारी के सामने अपने को किंचित् लज्जित अनुभव करता है। अर्थात् पैसे का इस प्रकार आदान प्रदान भी इष्ट और उत्कृष्ट तो नहीं है। अर्थात् यह कोटि पहली से उतरती हुई है, पर तीसरी

कोटि से अच्छी भी हो सकती है।

तीसरी है नौकरी और मज़दूरी की कमाई की कोटि। बिलकुल हो सकता है, और शायद है, कि नौकर जिसकी नौकरी और मज़दूर जिसकी मज़दूरी करता है, उसके प्रति अन्दर से वह एक दम अश्रद्धा के भाव रखता हो। तब जो उनके बीच श्रम और वेतन का आदान-प्रदान है; वह दोनों ओर हीनता और दूरी व द्वेष पैदा करने का कारण होता है।

चौथी अथवा अन्य कोटिया जहा लोभ, भय, अविश्वास उकसा कर या केन्द्रीकरण द्वारा लाभ किया जाता है, सबसे प्रचलित और सबसे वैध है। पर मुझे वह निकृष्ट मालूम होती है।

पाचवी है लाचारी से लाभ। यह निन्द्य है और कानूनन उस पर रोक-थाम भी की जाती है।

बिना मिहनत अमुक के पुत्र और पौत्र होने के बल पर जो बड़ी-बडी 'कमाइयो' की सुविधा मिल जाती है—उसका भी औचित्य विशेष समझ मे नही आता। जरूरी नही है कि एक प्रतिभाशाली पिता के पुत्र को अपनी पैत्रिक प्रतिष्ठा से हीन रखा जाय। पर स्वयं कर्म-हीन होकर वह अपने पिता की प्रतिभा के फलों को बैठा-बैठा खाया करे, यह उचित नही मालूम होता।

इन सब से परिणाम निकलता है कि उत्कृष्ट स्थिति वह है, जहा परस्पर मे लेन-देन की भावना ही नही है, एक-दूसरे के हित के काम आने को भावना है। इन सम्बन्धो पर आश्रित परस्पर का व्यवहार ही सच्चा व्यवहार है। अपने को और समाज को हमें उसीतक उठाने का प्रयत्न करना होगा।

पर, उससे उतर कर आदमी आदमी के बीच करुणापूर्ण व्यवहार मुझे पसन्द है। अर्थात् कमाई की रोटी नही, दान और भीख की रोटी मुझे पसन्द है।

इस बात पर तनिक रुक कर मुझे अपने को साफ़ करना चाहिये। मैंने पुस्तक लिखी और प्रकाशक से रुपये पाये। अब दो बात है;

या तो मै उसे अपनी कमाई कहूं ; या फिर मैं उसे प्रकाशक की कृपा कहूं। मै दूसरी बात पर कायम हूं। कमाई मायावी शब्द है। उस शब्द के सहारे माया जुड़ती है और भीतर की सचाई नही जागती। सचाई है प्रेम। लेकिन कमाई शब्द मुझमे ऐसा भाव भरता है कि प्रकाशक को प्रेम देने मे मै असमर्थ हो जाता हूं। मानो कि मैने किताब लिखी, तुमने पैसा दिया। बस अब हम दोनो चुकता है। मानो कि एक दूसरे को समझने की आवश्यकता और एक दूसरे के लिए झुकने और काम आने की भावना से ही हम ऐसे चुकता हो जाते है। यानी हमारा आदान-प्रदान एक दूसरे को दो किनारो पर डाल देता है और वह रुपया ही आकर बीच मे खाई बन जाता है। नही, मै उस रुपये को अपनी कमाई नही, दूसरे की कृपा मानूंगा। आप कहेगे कि तुम हो भोले। प्रकाशक बाजार मे बैठता है और किसी को एक देता है तब, जब कि उसके दो वसूलता है। तुम्हारी किताब छाप कर तुम्हे जितने दिये है, उससे चौगुने दाम अपने खरे न कर ले तो प्रकाशक कैसा ? तुम कृपा कहते हो, पर वह ठगी है। चार में तुम्हे एक देकर तीन अपनी जेब मे डाले है। तुम्हारे आंखे हो तो तुम्हें कभी सन्तुष्ट न होना चाहिये। अभी एक मिलता है, तो जरूर ले लो; लेकिन बाकी तीनो पर अपनी निगाह जमाये रखनी चाहिये। आपकी यह बात सही हो सकती है। पर, फिर भी मै 'उनकी कृपा' की जगह 'अपने हक' के शब्द को इस्तेमाल नही करना चाहता। क्योकि मै नही चाहता कि दो व्यक्ति अपनी सीमाओं पर काटे के तार खड़े करके मिले। ऐसे वे कभी एक दूसरे में घुल नही सकेगे और न उनमे ऐक्य उत्पन्न होगा। वैसे आपस में वे सदा कतराते रहेगे और फल उसका वैर होगा।

इस तरह मै अपनी कमाई का खाता हूं—इस झूठे गर्व से मै मुक्त हो जाना चाहता हू। अगर ईश्वर है, तो मेरा तेरा झूठ है। अगर ईश्वर की यह दुनिया है, तो उसकी अनुकम्पा पर ही हम जीते है। अगर ईश्वर

की यह दुनिया है, तो उसकी अनुकम्पा पर ही हम जीते हैं। अगर ईश्वर सर्वव्यापी है, तो उसकी अनुकम्पा भी सब मे है और उसीके बल पर हमें जीना चाहिए।

इस दृष्टि से जिसको बाकायदा कमाई कहा जाता है, उसको बढिया नही मानना होगा। उससे अहंकार का चक्र कसता और फैलता है। उससे मैं तू और मेरा तेरा बढता है।

मै जानता हू कि हमारे समाज मे एक चीज है, इज्जत। उसको धुरी मानकर हमारा सभ्य-जीवन चल रहा है। अरे, हरेक अपनी इज्जत रखता है। कमाई नाम का शब्द उसकी इज्जत को मजबूत और ऊची बनाता है। वह कमाता है, इसलिए उसकी नाक किसी से क्यो नीची हो ? नवाब घर का नवाब हो, अपने घर मे हम भी नवाब है। इस तरह कमाई पर टिक कर हम अपना आत्म गर्व सुरक्षित करते है। इस तरह हम इस लायक होते है कि किसी को अपने से छोटा समझे।

इस में तथ्य भी हो। पर जो अतथ्य है, वही मै दिखाना चाहता हूं। कमाई के बल पर हम सच्चे भाव में विनम्र बनने से बचते हैं। अपने इर्द-गिर्द इज्जत का घेरा डालते है, जो हमारे विकास को रोकता है। हम उससे अहम् को केन्द्रित करते है और फलत. सेवा-कर्म के लिए निकम्मे होते है।

सक्षेप मे; अपने लिए, मै कमाई के धन को नही, कृपा के अन्न को अच्छा समझता हू। कमाई में आगे की चिन्ता है। आगे का अन्त नही, इससे चिन्ता का भी अन्त नही। दस हजार है तो वह थोड़े; पचास हजार है, तो पाच बेटो मे बटकर भला वह क्या रह जायेंगे ? इस तरह भविष्य के अविश्वास के आधार पर चिन्ता का पहाड़ का पहाड हम अपने ऊपर ओढ लेते है। तब चिडिया जैसे सबेरा निकलते ही चहचहाती है, वैसे हम नही चहचहा पाते। कमर झुक जाती है, क्योकि अनन्त चिन्ता का बोझ उस पर हम धर लेते है। मस्तक तब आकाश मे नही

उठ सकता। दूसरे का दुख देखने की फुरसत नही रहती, क्योकि हम अपने और अपनों से दब जाते है।

नही-नही, विश्वास का रास्ता आस्तिक का रास्ता है। कल की शका करके आज को मै नष्ट कैसे करूं? और यह सच है कि आज यदि नष्ट नही होगा, तो कल और पुष्ट ही होने वाला है। पर कल के दवाव में आज को हाथ से जाने देते हैं, तो फिर कल भी कोरा ही रह जाने वाला है।

: ३ :

राष्ट्रीयता

कई वर्ष की बात है कि एक पुस्तक देखी थी, 'राष्ट्र धर्म'। प्रचार के साथ विचार के लिए भी वह लिखी गयी मालूम होती थी। कुल मिला कर उसमे राष्ट्र को अपने इष्ट देव की तरह मानने की सीख थी और सब धर्मो का धर्म बताया था—राष्ट्रीयता।

उसके बाद एक विवाह देखा। वहां वेदी की जगह भारत का नकशा बना था। वेद मन्त्रो की जगह राष्ट्र-गीत ने ली थी। अग्नि देवता के बजाय भारत माता की साक्षी पवित्र समझी गयी थी। और दूसरे कुछ इस तरह के सुधार थे। उस विवाह को बताया गया था—राष्ट्रीय।

और अभी थोडे दिन पहिले बालिकाओं की एक शिक्षण-सस्था देखी। वह सस्था सिर्फ गिनती बढाने वाली नही थी। उसका ध्येय था और वहा जिन्दगी नजर आती थी। उसकी ओर से उनकी शिक्षा के आदर्श की व्याख्या मे एक पुस्तिका भी निकली है। उसमे देखा कि उनके दो बुनियादी सिद्धान्त है, उनमें एक है—राष्ट्रीयता।

यो तो अपनी काग्रेस राष्ट्रीय है। नाम ही है 'इन्डियन नेशनल काग्रेस'। पर काग्रेस के साथ के राष्ट्रीय शब्द मे मन मे कुछ सवाल नही उठता। मानो वह शब्द सही है और अपनी जगह है। पर ऊपर के उदाहरणो में काम में आने वाली राष्ट्रीयता पर मन मे सवाल उठता है। जो राष्ट्र और राष्ट्रीयता पूजी जाती है, विवाह मे मध्यस्थ होती है,

कन्या-शिक्षा मे बुनियादी सिद्धान्त का काम देती है, उस राष्ट्रीयता पर मन कुछ ठहरता है।

फिर सामने विलायतों मे लड़ाई चली है। लडने लायक जोश वहा जिस बिना पर पैदा होता और किया जाता है, उसको भी हम शायद राष्ट्रीयता कह सकते है। जर्मन लोग जर्मनी के नाम पर और इगलैंड के लोग इगलिस्तान के नाम पर, अपनी रक्षा के डर मे या अपनी बढती की आकाक्षा मे, एक दूसरे की जान के प्यासे दीख रहे हैं। उनका ज़ाहिरा धर्म क्या है ?—राष्ट्रीयता।

इससे राष्ट्रीयता शब्द पर कुछ अटकना बेजा नही है। चाहिए कि देखे उस शब्द की उपादेयता पर कुछ हदे है या नही ? हदे है, तो वह क्या है ? या कि वह शब्द ऐसा आखिरी है कि उसके आगे खयाल को जाना ही नही चाहिए ?

हाल की ही तो बात है कि अपने हिन्दुस्तान मे काग्रेस और गाँधी दो अलग रास्ते जाते दिखलाई दिये। अब वैसा नही है। सन् '१९ से शायद कभी वह बात नही थी। पर कुछ देर के लिए वह अन्तर राह चलते के लिए भी साफ हो गया। हिन्दुस्तान के मामूली आदमी के लिए तो यह ऐसी अनहोनी हुई कि वह उस पर भौचक रह गया और ठीक तरह कुछ समझ नही सका। लेकिन सूझते के लिए बात साफ हो गयी। कारण, काग्रेस सिर से पांव तक राष्ट्रीय थी। गाँधी पर वह पाबन्दी नही थी।

गाधी इधर बीस वर्ष से अधिक से हिन्दुस्तान की समूची राष्ट्रनीति को गति और दिशा दे रहे है। अर्थात् राष्ट्र उनके कारण कुछ सच्चे हा अर्थों मे राष्ट्रीय हुआ है। फिर भी गाधी हर अवसर पर कह देते है कि राष्ट्रीय कहा, मै तो धार्मिक हू। धर्म की निगाह से सब बातो को देखता और उन पर फैसला करता हूं।

इसलिए खुद राष्ट्र को और उसकी राजनीति को चलाने, और अपने निजी और समाजी जीवन को सुधारने की दृष्टि से हमें मुड़कर

राष्ट्रीयता का लेखा ले लेने की जरूरत है। देखना चाहिये कि कितनी उससे हमें मदद मिलती है और कहा पर रोक थाम चाहिये; हमको कहा पहुचना है और राष्ट्रीयता बेलगाम हमको कहा ले जा सकती है; यानी आदमी राष्ट्रीयता को ले तो किन मर्यादाओ के साथ, ये सारी बातें सोचने की है।

कहा जाता है कि मानवता एक है। आदि दिन से यह कहा जाता है। विरोध इसका नही सुना गया। सब मनुष्य भाई-भाई है और मानव जाति एक परिवार है—सब जातियो के साहित्य और धर्म में यह पुकार मिल जायगी।

इसलिए वह बात झूठ तो नही है। पर सचमुच क्या हमारे काम देखते हुए भी वह सच है ?

धरती पर निगाह डालते है, तो वह कटी-बटी है। राष्ट्र बटे है; प्रान्त बटे है। फिर अनेक जातिया, अनेक वर्ण, अनेक धर्म-सम्प्रदाय और गिरोह है। उनमें आपस मे अनबन है और खून-खराबी होती है। अर्थात् धरती के व्यवहार मे मनुष्य जाति एक नही है।

फिर भी मानवता तो एक है। और स्पष्ट है कि वह बाहर से नही तो भीतर मे, यानी ईश्वर (आदर्श) मे एक है।

और धरती ही सच नही, बल्कि आसमान भी सच है। शायद आसमान ज्यादा सच है। क्योंकि आदमी का बिगाड वहा नही है और ईश्वर की अछूती कुदरत वहा है।

इसलिए धरती पर की स्वार्थ की अनेकता से परमार्थ की एकता ज्यादा सच है। क्योकि वही सच्चा सच है।

लेकिन एक दम उस सच्ची सच्चाई से अपना काम कहा चलता है ? वह काम धरती का जो है। तो भी यह निश्चित है और निश्चित रहे कि मानवता का कुछ लक्ष्य है तो वह उस पारमार्थिक एकता को पाना है। उससे हटकर कोई गति प्रगति नही, और कोई कर्म इष्ट नही है।

आदर्श व्यवहार से भिन्न है, इसीलिए व्यवहार के बारे में उलझन

और पेच हो, तब आदर्श की याद कर लेना इष्ट है, क्योंकि माप वही है। व्यवहार को परखने की कसौटी खुद व्यवहार ही कैसे हो सकता है ? और आदर्श से यदि हमे कुछ काम है तो वह यही काम है कि व्यवहार मे दिशा-भूल होने पर आदर्श हमे राह बताये।

मानव जाति का इतिहास वहा से चलता है, जहा हर एक अकेला और हर एक अपने मे कुल भी था। समाज नही था, व्यक्ति ही था। अपनी खुदी उसके लिए सब थी, हर दूसरा उसे दुश्मन था। आपस मे नातों-रिश्तो की कल्पना न थी और भोग और भूख का ही उनमें सम्बन्ध था। प्यार जगा, मिल लिये। भूख लगी, खा डाला। अर्थात् व्यक्ति अपने मे इकाई था, और हर दूसरे से अलग था। परिवार भी न बना था, बनने को था।

वहा से हम चले। परिवार बना। जनपद बने, नगर बना। आपसीपन पैदा हुआ। सामाजिकता उपजी। जातिया बन चली। राज उदय मे आये। इस तरह आदमी ने दूर-पास नाता जोडना शुरू किया। उसका अपनापन फैला। उसी तरह वर्तमान को लाघ कर अतीत और भविष्य से भी उसने अपना रिश्ता देखा। काल में भी उसने अपने को फैलाया और सस्कृति ने जड पकड़ी। चलते-चलते मनुष्य-जाति आज इस भूमिका पर है कि उसका व्यापक व्यवहार राष्ट्र को इकाई मानकर सम्भव बनता है। आज की जीवित राजनीति का घटक (unit) राष्ट्र-राज्य (Nation state) है।

मै इसको विकास मानता हू, ह्रास नही। आदिम मनुष्य का काया-बल आज के मनुष्य में नही है, वह डील-डौल नही है, वह चपलता नहीं है। यह उचित ही है। शेर अकेला है और जंगल मे रहता है। इससे उस ढग की सिफ़त भी उसमे है। पर आदमी अगर शेर नही है, तो इस पर अफ़सोस करने की जगह नही है।

आज दिन राष्ट्र की भाषा में हम सोचते है। जनता का मन राष्ट्र को अपना कहकर अपनाने में आज समर्थ है। यह छोटी बात नही है।

जैन तीर्थङ्कर महावीर ने अहिंसा धर्म पर जोर दिया। पर वह धर्म व्यक्ति के दायरे मे देखा गया और पाला गया। आज अहिंसा को राष्ट्र की परिभाषा मे सोचा जाता है। सोचा नही, अमल में लाने का आग्रह रखा जाता है। यानी राष्ट्र और राष्ट्रीयता की धारणा मनुष्य जाति के विकास का लक्षण है।

पर आदर्श पा कब लिया गया और विकास कब खतम हुआ है? इस-लिए राष्ट्र हमारे राजनीति-व्यवहार की धरती की इकाई बनने से अधिक उसके उद्देश्य की परिधि भी बनता है, तो वह मनुष्य जाति के विकास मे खतरा है। हम आज राष्ट्रीयता पर हो, पर वहाँ रुक नही सकते है। आगे भी चलना है। यदि राष्ट्रीयता आगे ले जाने में उप-योगी नही होती है, तो वह बाधा है। ऐसी अवस्था मे वह जकड़ है, जिसको तोडे बिना गति सम्भव नही। वैसी राष्ट्रीयता प्रतिक्रिया का अस्त्र है।

मनुष्यता बढती आयी है और बढती चलेगी। सर्वैक्य तक उसे उठते ही चलना है। इस यात्रा मे हर कदम की सार्थकता ही यह है कि वह अगले कदम की प्रेरणा दे। जिस जमीन पर अब है, अगर चलना है, तो वह ज़मीन छूटेगी। एक कदम तभी सच है जब कि आगे दूसरा भी हो। जिसके आगे दूसरा नही, वह कदम मौत का हो जाता है। इस तरह कोई कदम और कोई मजिल अपने आप में सच नही। राष्ट्रीयता भी अपने आप मे सच मान ली जायगी, तो वह झूठ पड़ जायगी। क्योकि तब वह मानवता को बढाने मे नही, रोकने में काम आने लगेगी। तब वह अगति का साधन होगी। और मानवता को तो सब के ऐक्य तक उठे बिना रुक रहना नही है, इससे उसकी राह में अटक बनने वाली राष्ट्रीयता को गिरना होगा।

इतिहास यही है। वीर आये, उन्होने जीवन की विजय साधी। तब वह काल के मुह पर खेले। पर काम हुआ कि वह काल के गाल में सो रहे। इतिहास उनको समा कर आगे बढ गया। राष्ट्रीयता भी हमारे

विकास की विजय है। पर पराजय बने, इससे पहिले ही उसे मानवता में समा जाना चाहिए। अन्यथा मानवता का विरोध सिर लेकर राष्ट्रीयता कलंकिनी होगी।

यानी राष्ट्रीयता अपनी जगह सामयिक रूप से सही है। पर जो सामयिक नही, ऐसे विचार और भावना पर भी वह यदि आरोप की भाँति लाई जाती है, तब वह सही नही रह जाती, क्योकि अपने क्षेत्र और काल की मर्यादा का उल्लघन करती है। अहंकार शुभ नही और उग्र राष्ट्रीयता उसी का लक्षण है।

पर अहकार हवा मे थोडे उड़ जाता है। साधना से उसे धीमे-धीमे हलका और व्यापक बनाना होता है। यही उससे छुटकारे की पद्धति है। राष्ट्र को लेकर हम अपने स्वार्थ और अहंकार के विसर्जन की प्रेरणा पाये, तब तक वह इष्ट है। पर उसका मतलब व्यक्तिगत अहकार की भांति हममे राष्ट्रीय अहकार का भर जाना हो, तो उसको इष्ट नही कहा जा सकता। और जब-जब हम राष्ट्रीयता के उपयोग को सामयिक से अधिक और अलग देखते है, तो कुछ उसी प्रकार के अहभाव के विकार मे फसे हो सकते है। यों तो कोई वस्तु सिरजनहार की याद बनकर पूज्य है, पर उपासक की उपासना उसमें अटक रहे, तो वह पूजा की नही विडम्बना की वस्तु हो जायगी। इसी तरह राष्ट्रीयता यदि सबकी एकता का नमूना बनकर उसी आदर्श की भावना जगाने में मदद देती है, तो ठीक; पर अगर कही वह दूसरे राष्ट्र या राष्ट्रवासियों की तरफ वैर या विरोध को शह देती है, तो कहना होगा कि वह अपने हद से बाहर पाव रखती है और यह उसकी उद्दण्डता है।

हमने देखा कि ऐक्य-विस्तार में हम बढ़ते ही आये है। बढकर राष्ट्रीयता तक आ पहुचे है। वहाँ से अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर भी कदम रखा है। जब तक हमारा हित कुल दुनिया के साथ मिला हुआ हमें नही लग आता, तब तक हमारी मुक्ति कहा ? और तब तक बढते ही चलना है।

लेकिन बढना सपनो से नही, कदमो से है। सपने के पर लगा कर तो आँख मूद छन मे हम आसमान छूलेंगे। लेकिन धरती से आसमान की ओर उडने के लिए हवाई जहाज बनाने मे मानवता को ईसवी की बीसवी सदी तक धीरज रखना और मिहनत करनी पडी।

इसी भाति कविता पर बैठकर राष्ट्रीयता से आगे बढना बस न होगा। कविता में कल्पना तो उडती, पर पैर थिर रहते है। तभी कवि को समाज अपनी बागडोर नही, प्रशसा ही देता है। पर कवि मनुष्यता के आदर्श की चौकसी रखता है। रात अधेरी है और दुनिया नीद मे या नशे मे है, तब भी कवि मनुष्यता की निधि, यानी प्रेम के आदर्श, पर पहरा दिये सजग बैठा है।

कवि का काम जरूरी है। पर उससे उतरे काम भी है, जो कम जरूरी नही है। कवि से कुछ उतरा एक व्यक्ति हुआ—मार्क्स। जर्मनी और फ्रास की अलहदगी और उनका परस्पर विरोध उसके मन मे नही घर कर सका। राष्ट्रीयता को वह नही समझ पाया, जो एक कल्पित रेखा के इधर के आदमी को अपना और उधर के आदमी को पराया बनाती है। इस विधान की कृत्रिमता पर वह आख नही मूद सका। उसे आस-पास के लोगो मे फाक नही नजर आयी, कोई बुनियादी फर्क नही समझ आया। इससे राष्ट्र के नाम पर की अलहदगी से वह अपने विचार मे समझौता नही कर सका।

पर मार्क्स उतना लेखक या कवि न था। यानी अन्तिम अभेद की निष्ठा उसे प्राप्त न थी। इससे वह सत्य का नही, समाज का दार्शनिक बना। उस समाज में उसे विषमता दीखी। उसका मस्तिष्क विषमता के साथ जूझने में लग गया। वह ऊपर की सब उलझनो के भीतर पहुँच कर विग्रह की असल गांठको पकडना चाहता था। यानी उस मौलिक विरोध को जो दूसरे सब विरोधों को थामता और उपजाता है। कोशिश के बाद उसे एक चीज़ नज़र आयी—धन, यानी पूजी। उसने वही अपना सब विश्लेषण गाड दिया और तर्क की राह चलते-चलते उसने समाज के

सारे विरोधों को एक अन्तिम और मूल विरोध के रूप मे जा ढूढा। वह था—पूजी और श्रम का विरोध।

इस अपनी खोज पर पहुच कर उसने पाया कि मनुष्यता खडित है। भूगोल से (Vertically) नही, बल्कि श्रेणियों मे (Horizontally) वह बँटी हुई है। असल विरोध इन श्रेणियो का आपसी विरोध है। उस विरोध को नष्ट करना होगा और उसके लिए जो ऊपर की श्रेणी अपने स्वार्थ-साधन मे उस विरोध को कायम रखती है, उसी को नष्ट कर देना होगा। पर कैसे ? वह ऐसे कि पहले उस विरोध को ही तीव्र करना होगा। वर्ग-विग्रह की भावना को चेतानो होगा। उस चैतन्य से नीचे की श्रेणी के, जहा सच्ची जनता और मानवता का निवास है, बल मिलेगा। इतना बल मिलेगा कि ऊपर से उसको दबाने वाली तह उसे असह्य हो जायगी। तब वह तह बिखर रहेगी, नष्ट-भ्रष्ट कर दी जायगी, और इस तरह समाज श्रेणियो से छुटकारा पाकर परिवार के मानिन्द एक हो जायगा। तब व्यक्ति समाज का और समाज के लिए होगा और परस्पर का हित-विरोध और स्वार्थ-सघर्ष नही रहेगा। मार्क्स की इस तर्क-पद्धति ने समूचे विकास को विग्रह मूलक परिभाषा मे देखा और दिखाया।

राष्ट्रीयता को ज्यो का त्यो न अपनाने वाले लोग तो यों सब देश और कालो मे हुए, पर वे धार्मिक जन थे,या साहित्यिक। राजकीय व्यवहार के धरातल पर लोग उसका स्वीकार करके ही चलते थे। राजनीति-विचारक शासन-तंत्रो के दार्शनिक विचार मे चाहे कुछ भी कहे, राष्ट्र के दायरे और विभाजन को जाने अनजाने वे मानते ही थे। मार्क्स ने उसी धरातल पर रह कर पहले-पहल राष्ट्र-विधान के अस्वीकार में अपनी आवाज़ ऊँची की।

मार्क्स से पहिले भी कुछ सद् विचारक राष्ट्र सत्ता (सरकार) से बिना सघर्ष में आये समाजवादी आदर्श के गठन और प्रयोग मे लगे थे; पर उन आदर्श को अमली शक्ल देने की जितना उनकी कोशिश थी,

उतनी उसको शास्त्रीय, वैज्ञानिक और व्यापक रूप देने की नही थी। वे लोग सामाजिकता को यथा सम्भव अपने व्यवहार मे उतारने की चेष्टा मे रहे। उसे एक वाद, एक जीवन-शास्त्र का रूप देने मे नही लगे। मार्क्स ने यही किया। स्वय मार्क्स सामाजिक नही बने, कर्म-कुशल और मिठबोल नही बने, सस्था नही बने; नेता नही बने। एकाकी,एकाग्र और स्वय असामाजिक रहकर भी, समाजवादी शास्त्र और स्वप्न का ढाचा पूरा करने मे वह लगे रहे।

वह समय मशीन का यानी सामूहिक उद्योग का था। अपने अलग-अलग श्रम से काम चलने की सभवता लोगों के मनो से नष्ट हो चुकी थी। कलो के बल पर भीमोद्योग चल रहे थे और आबादी नगरो मे केन्द्रित होती जाती थी। उस घटनात्मक यथार्थ के आगे व्यक्तिगत स्वावलम्बन मे विश्वास रखने वाला आदर्श टिक नही सकता था। यानी केन्द्रित उद्योगो के कारण समाजवाद नही, तो एक प्रकार के समूहवाद की ज़रूरत तो स्थिति मे भरी ही थी। मार्क्स ने उसे सान दे दी। जैसे भाव को भाषा दे दी। मार्क्स के ज़बर्दस्त और तीखे तार्किक प्रतिपादन ने उस विषय के चारो ओर विवाद और विवेचन का वातावरण पैदा कर दिया। इस विमर्ष से वस्तु को धार मिली।

यह समाजवाद राष्ट्रीयता को पहली सशक्त चुनौती था। पर राष्ट्रीयता का भेद यो कृत्रिम हो; लेकिन उसके भीतर राष्ट्र की एकता का तथ्य भी समाया है। वह थोडे बहुत अश मे एकता के प्राकृतिक विकास के अनुरूप है। मानो भौगोलिक विभाजन प्रकृति की ओर से ही क्षम्य है। जैसे वह परिस्थिति गत लाचारी है, एक मजिल, एक रियाअत है।

इसकी तुलना मे मार्क्स का श्रेणीगत विभाजन उतना अनिवार्य और साफ नही है। उसको मानो हमारे समाज के अन्दर फैली हुई वर्ग-दुर्भावना से ही बल मिलता है।

पर वह जो हो, मार्क्स के इस वर्ग-विभाजन की नई झांकी में से लोगों ने हठात् मानवता की एकता के आदर्श को भी ताजा और समीप

बनाकर देखा । रूस देश की हालत उस विचार-धारा के प्रचार के बिलकुल अनुरूप पडी । वहा जनता पर शासन का जूआ बहुत भारी था । मनोभावना की जमीन वहां तैयार थी । उस देश मे मार्क्स के समाजवाद को बल पकड़ने और अपने को आजमाने का अवसर मिला ।

जहां तक वर्ग-चेतना की धार को तेज़ करके शक्ति उपजाने और सत्ता के तख़्त को पलट देने और उस पर हावी होजाने का सम्बन्ध था, मार्क्स का नकशा ठीक उतरता चला गया । वहा उसके बे ठीक होने का प्रश्न भी नही था । क्योंकि मानवता का एकता का सपना सनातन था और त्रस्त जनता की दबी भावना उभरने को तैयार ही थी । समाजवाद ने, पुराने शासकों की जगह नये आने वाले शासकों की पार्टी में,सङ्गठित होने के लिए नाम का और आदोलन-प्रचार का सुभीता दे दिया ।

परिणाम हुआ कि क्रान्ति हो गई । यानी शासक बदल गये । पर जिस राष्ट्रीयता नाम के साचे मे मनुष्य-जाति की राजनीति और राजकाज ढलकर चलाए जाते थे और जिस सांचे से उद्धार पाने की आशा समाजवादके रोमाटिक साहित्य से लोगो में पनप चली थी,उस साचेका क्या हुआ?

रूस की क्रान्ति रूस के इतिहास के लिए एक बड़ी घटना है । उस दायरे मे वह एक बडा सबक है और गेहरा इशारा है । पर उस दायरे के बाहर मनुष्य जाति के इतिहास मे क्या वह किसी नये मानसिक मूल्य (Category of consciousness) का दान है ? मेरे विचार म नही । क्रान्ति से समाजवाद बीते इतिहास और शास्त्रीय दिलचस्पी का का विषय रह गया, जीवित और वर्त्तमान राजनीति से वह निःशेष होगया ।

यूरोप के और देशो के बराबर रूस को लाने का काम क्रान्ति ने किया, यूरोप को बदलने या बढाने का नही । क्या राष्ट्रीयता नाम के जिस सांचे (Category of Political consciousness) के द्वारा राजनीति का व्यवहार चलता था उसमें कुछ अन्तर आया ? सुधार हुआ ? विस्तार हुआ ? शायद नहीं ।

मार्क्स के समाजवाद पर राष्ट्रीयता आयद नही हो सकती, लेनिन का समाजवाद सीमित रूसी राष्ट्रीयता से समझौता निबाह सका, और स्टालिन का समाजवाद रूस की वैदेशिक नीतिमे समाजवाद है,यह उसके दुश्मन भी नही कह सकेंगे। हां, ट्राटस्की के समाजवाद ने भौगोलिक परिधियो को नही स्वीकार करना चाहा। परिणाम हुआ कि जीवित राजनीति मे ट्राटस्की नगण्य रहा, जैसे कि मार्क्स नगण्य था। लेनिन गणनीय रहा, क्योंकि राष्ट्रीयता को उसने निभाव दिया। और स्टालिन एक समूचे देश की शक्ति के साथ सशक्त है, क्योकि भाषा चाहे उसे समाजवाद की रखनी पड़ी हो (और इतने प्रचार के बाद दूसरी भाषा सहसा रूस को लग भी नही सकती थी), पर भाव मे वह यूरोप के और देशो के अधिनायको की तरह समाजवाद के आदर्श के दबाव से सर्वथा मुक्त है।

समाजवाद रूस में भी यदि व्यावहारिक राजनीति के काम का है, तो राष्ट्रीय दायरे मे और राष्ट्रीय विशेषण के साथ ही काम का है। अर्थात् सोशलिज्म जब नेशनल है, तभी अन्तर्राष्ट्रीय धरातल पर उसकी गिनती है। अन्यथा तो वह निजी वस्तु भले रहे, मानव जाति के राजनैतिक व्यापार मे चलन की वस्तु वह नही है।

तभी तो अत्याधुनिक राजनैतिक धर्म का नाम 'नेशनल सोशलिज्म' है। जाने-अनजाने रूस मे भी वही है और इग्लैण्ड मे भी वही है।

राष्ट्रीयता (Nationalism) का मान पुराना पड़ रहा था। उसमें से साम्राज्य बने और साम्राज्यशाही मनोवृत्ति को जन्म मिला। साफ हो चला था कि यह मनोवृत्ति मानव-मूल्यो के विकास मे बाधा है। सोशलिज्म ने आकर मानवता के मर्म के गहरे में जो स्वप्न सदा रहता आया है, यानी विश्वबन्धुत्व, उसे भडकाया। उधर यथार्थ में उसने राष्ट्रवाद के साथ समझौता कर लिया। इस तरह उसने राष्ट्रवाद को नई जान दे दी। सोशलिस्टिक बनकर मानो नेशनालिज्म हमे ऐक्य की ओर ले जा सकता है, ऐसे भुलावे का सामान कर दिया। हिटलर

क्यो न आज मान ले कि वह मनुष्यता का विकास-साधन कर रहा है, क्योकि वह जर्मन राष्ट्र को राष्ट्रीय चेतना के आधार पर दृढ़, बलवान और अविजेय बनाकर दिखला सका है ? यदि राष्ट्रीयता लक्षण हो तो हिटलर को विश्व की प्रगति मे आज सबसे अगला कदम गिनना होगा।

पर नेशनल-सोशलिज्म नाम के सङ्कर पदार्थ मे दो अनमेल तत्वो का मेल है। इससे वह बारूद है जो फट पड़ने के लिए है। यूरोप के राष्ट्र उस बारूद को अपनी काया मे भर बैठे है और विस्फोट समक्ष है।

इस प्रकार राष्ट्रीयता अपने आप सही मानी जाकर जब किसी शब्द के सहारे आदर्शात्मक भावावेश के मेल से तीव्र और पुष्ट की जाती है, तो इससे राष्ट्र की शक्ति बढती दीखती हो सही, पर उसका खतरा भी बढता है। यानी उससे मद और आतंक बढता है। आतंक बढने से उसमें, और आस-पास के देशों मे, सेना और शस्त्रास्त्र की बढ़वारी होती है। राष्ट्र का धन बढ़ता मालूम होता है, पर उसके लिए मंडिया खोजनी पढती है। उन मडियों की रक्षा के लिए नाकेबन्दी बैठालनी पड़ती है। इसके लिए, और हुकूमत की शाही शान रखने के लिए, धन को बढाते जाने की जरूरत और हविस होती है। उसके लिए उस राष्ट्रीय सत्ता को दूर पास शोषण की नलिया जोडनी पडती है। उन नलियों द्वारा धन, यानी उन देशवासियों का रक्त, खीचा जाता है। वही फिर मद और विलास के रूप में अपने शरीर में प्रविष्ट किया जाता है। उस विलास-रक्षा के लिए फिर जरूरी होता है कि चौखूट चौकसी पूरी हो। टैंक हों, जहाज हों और क्या न हो ! इस तरह एक राक्षसी चक्कर चल पड़ता है।

जहा तक साम्प्रदायिकता और प्रान्तीयता से हमारा उद्धार करे वहा तक राष्ट्रीयता हितकारी है। जहा वह स्वयम् एक अहंकार का रूप होती है वहां वह विष की भाति त्याज्य है। राष्ट्र ठीक, प्रान्त ठीक । ये तो भी बडी बातें है। में कहता हूं कि अपना कुटुम्ब, अपना निजत्व, सभी ठीक हैं। पर कुटुम्ब के अस्तित्व के लिए ज़रूरी है कि सदस्यों के स्वत्व-

भाव मे परस्पर हित-विरोध न हो, और घर के लिए जरूरी है कि उसके द्वार पर स्वागत और हृदय मे अतिथि के लिए प्रेम हो । वह घर जो पडौस से हिलमिल कर नही बसता, और वह कुटुम्ब जो अपने से बाहर सहानुभूति का दान नही करता, सूख जाता है। वह तब नगर के लिए रोग का कारण बनता है। यही बात बडी सस्थाओ और समुदायो के बारे में भी है। साम्प्रदायिकता दो सम्प्रदायो की स्पर्धा और उनके तनाव पर मजबूत होती है, इसीसे वह अच्छी नही है। ऐस ही जो दो राष्ट्रों के वैमनस्य से पुष्ट होती और उसको पुष्ट करती है, वह कैसे अच्छी चीज समझी जा सकती है ?

अर्थात् सामयिक भाव से जो भी कर्तव्य, जो भी धर्म उपादेय हो, सब पर एक परम-धर्म की मर्यादा लागू होती है। वह धर्म सामयिक नही, शाश्वत है। उसका अनुपान वस्तु और स्थिति के साथ भिन्न हो सकता है। पर स्वयम् मे वह परम धर्म होते अनिवार्य है। उसका नाम है अहिंसा। उसका मतलब है निर्वैर और उसकी आत्मा है प्रेम ।

अहिंसा से यदि राष्ट्रीयता जो भर हटे तो वह उसी अंश मे सदोष है।

सदोष तो यो मानव भी है। निर्दोष बस ईश्वर है, जो आदर्श का दूसरा नाम है। निर्दोषता की स्थिति आदर्श से बाहर और कही नही है। लेकिन सदोषता को हम मानते चले, देखते चले, निर्दोषता की ओर बढने का यही मार्ग है ।

राष्ट्रीयता उपयोगी है, इसी मे है कि उसमे अनुपयोगी होने की क्षमता है। इससे उसकी मर्यादा जान लेनी चाहिये और मर्यादा के उल्लघन से सदा उस राष्ट्रीयता को बचाना चाहिये ।

राष्ट्र-सेवा की भावना यदि लोभ-वृत्तिक (Romantic) नही, तो वह लोक-सेवा के रूप में ही अपनी कृतार्थता खोजेगी। लोक-सेवा पडौसी-सेवा से आरम्भ होती है। इस प्रकार की सच्ची राष्ट्रीयता राजनैतिक नही होती, 'राज' को अपने से दूर करके वह केवल नैतिक होती है ।

नैतिक भाव से की गयी जन-सेवा अपने व्यापक प्रभाव के कारण

संघर्ष उपजा उठे, और अनायास राष्ट्रीय अथवा राजनैतिक दीख चले, वह बात अलग है। पर अपनी ओर से वैसा विशेषण उसे देकर चलना अनावश्यक है।

अर्थात् दूसरे लोग राष्ट्रीय कहे तो कहले, स्वयम् संज्ञा वह देकर किसी नीति अथवा वस्तु को अपनाने की तबियत सही नहीं। जो अपनाने योग्य है, वह नैतिक कारणों से। उस दृष्टि से जो इष्ट है, वही अभीष्ट हो सकता है। राजनीतिक धरातल पर उस इष्ट वस्तु की इष्टता बतलाने में सहज ही वह (राजनीतिक) भाषा भी सुलभ हो सकती है। अपनी ओर से नैतिक को छोड़कर राजनैतिक भाषा पर आना अनावश्यक है।

नीति से अलग होकर राजनीति भ्रम है और मानवता से च्युत होकर राष्ट्रीयता भी बन्धन ही है।

: ४ :

व्यवसाय का सत्य

एक रोज एक भेद ने मुझे पकड लिया। बात यो हुई। मै एक मित्र के साथ बाज़ार गया था। मित्र ने बाज़ार मे कोई डेढ सौ रुपये खर्च किए। सो तो हुआ, लेकिन घर आकर उन्होने अपना हिसाब लिखा और खर्च खाते सिर्फ पाच रुपये ही लिखे गये। तब मैंने कहा, "यह क्या ?" बोले, "बाकी रुपया खर्च थोडे ही हुआ है। वह तो इन्वेस्टमेण्ट है।"

इन्वेस्टमेण्ट यानी खर्च होकर भी वह खर्च नही है, कुछ और है। खर्च और इस दूसरी वस्तु के अन्तर के सम्बन्ध मे कुछ तो अर्थ की झलक साधारणत. मेरे मन में रहा करती है, पर उस समय जैसे एक प्रश्न मुझे देखता हुआ सामने खड़ा हो गया। जान पड़ा कि समझना चाहिये कि खर्च तो क्या, और इन्वेस्टमेण्ट' क्या ? क्या विशेषता होने से खर्च खर्च न रह कर 'इन्वेस्टमेण्ट' हो जाता है ? उसी भेद को यहां समझ कर देखना है और उसे तनिक जीवन की परिभाषा में भी फैला कर देखेंगे।

रुपया कभी जम कर बैठने के लिए नही है। वह प्रवाही है। अगर वह चले नही तो निकम्मा है। अपने इस निरन्तर भ्रमण में वह कहीं-कही से चलता हुआ हमारे पास आता है। हमारे पास से कही और चला जायगा। जीवन प्रगतिशील है, और रुपये का गुण भी गतिशीलता है। रुपये के इस प्रवाही गुण के कारण यह तो असम्भव है कि हम उसे रोक रखें। पहिले कुछ लोग धन को जमीन में गाड देते थे। गड़ा हुआ

धन वैसा ही मुर्दा है जैसे गडा हुआ आदमी। वह बीज नही है जो धरती मे गड़ कर उगे। गाड़ने से रुपये की आव विगड़ जाती है। फिर भी उसमे प्रत्युत्पादन शक्ति है, उस शक्ति को कुंठित करने से आदमी समाज का अलाभ करता है। खैर, रुपये को गाड़कर निकम्मा बना देने या उसे कैदखाने मे बन्दी करके डाल देने की प्रवृत्ति अब कम है। रुपया वह है जो जमा रहने भर से सूद लाता है। सूद वह इस लिए लाता है कि कुछ और लोग उस रुपये को गतिशील रखते है, वे उससे मुनाफा उठाते है। उसी गतिशीलता के मुनाफे का कुछ हिस्सा सूद कहलाता है।

रुपया गतिशील होने से ही जीवनोपयोगी है। वह हस्तान्तरित होता रहता है। वह हाथ मे आता है तो हाथ से निकल कर जायेगा भी। अगर हमारे जीवन को बढना है तो उस रुपये को भी व्यय होते रहना है।

लेकिन उस व्यय मे हमने ऊपर देखा कि कुछ तो आज 'व्यय' है, कुछ आगे बढ़ कर "पूंजी" हो जाता है—"इन्वेस्टमेन्ट" हो जाता है। समझना होगा कि सो कैसे हो जाता है।

कल्पना कीजिये कि दिवाली आने वाली है और अपनी-अपनी मा से राम और श्याम को एक-एक रुपया मिला है। राम अपने रुपये को कुछ खिलौने, कुछ तस्वीरें और फुलझड़ी आदि लेने में खर्च करता है। श्याम अपने बारह आने की तो ऐसी ही चीजे लेता है, पर चार आने के वह रगीन कागज लेता है। उसने शहर में कन्दील बिकते देखे है। उसके पिता ने घर मे पिछले साल एक कन्दील बनाया भी था। श्याम ने सोचा है कि वह भी कन्दील बनायेगा और बना कर उसे बाजार में बेचने जायेगा। सोचता है कि देखे क्या होता है।

राम ने कहा—श्याम, यह कागज तुमने क्या लिये है? इसके बदले मे वह मेम साहब वाला खिलौना ले लो न, कैसा अच्छा लगता है।

श्याम ने कहा—नही, मैं तो कागज़ ही लूंगा।

राम ने अपने हाथ के मेमसाहब वाले खिलौने को गौरव पूर्ण भाव मे देखा और तनिक सदय भाव से श्याम को देख कर कहा—अच्छा!

राम न श्याम की इस कार्यवाही को नासमझी ही समझा है। राम के चेहरे पर प्रसन्नता है और उसने मेम साहब वाले अपने खिलौने को विशिष्ट रूप से सामने कर लिया है।

राम के घर में सब लोग खिलौनों से खुश हुए हैं, इसके बाद वे खिलौने टूट-फूट के लिए लापरवाही से छोड़ दिये गये हैं। उसी भांति फुलझड़ियों में से जलते वक्त भांति-भांति की चिनगारियां छूटी हैं। जल कर फिर फुलझड़ियां समाप्त हो गई हैं।

उधर यही सब श्याम के घर भी हुआ है। पर इसके बाद श्याम अपने रंगीन कागजों को लेकर मेहनत के साथ कंदील बनाने में लग गया है।

यहां स्पष्ट है कि श्याम के उन चार आनों का खर्च खर्च नहीं है, वह पूंजी (Investment) है।

अब कल्पना कीजिये कि श्याम की बनाई हुई कंदील चार आने से ज्यादा की नहीं बिकी। कुछ कागज खराब हो गये, कुछ बनाने में खूबसूरती न आई। हो सकता था कि वह चार आने से भी कम की बिकती। अच्छी साफ बनती तो मुमकिन था, ज्यादा की भी बिक सकती थी। फिर भी कल्पना यही की जाय कि वह चार आने की बिकी और श्याम उन चार आने के फिर खील-बताशे लेकर घर पहुंच गया।

इस उदाहरण में हम देख सकते हैं कि राम को दिये गये एक रुपये ने चक्कर नहीं काटा। श्याम के रुपये ने जरा ज्यादा चक्कर काटा, यद्यपि अन्त में श्याम का रुपया भी सोलह आने का ही रहा और इस बीच श्याम ने कुछ मेहनत भी उठाई। राम का रुपया भी बिना मेहनत के सोलह आने का रहा। फिर भी दोनों के सोलह आने के रुपये की उपयोगिता में अन्तर है। वह अन्तर श्याम के पक्ष में है और वह अन्तर यह है कि जब राम ने उसके सोलहों आने खर्च किये, तब श्याम ने उनमें के चार आने खर्च नहीं किये, बल्कि 'लगाये'। उस लगाने का मतलब यही कि उसको लेकर श्याम ने कुछ मेहनत भी की और रुपये का मूल्य अपनी मेहनत जोड़ कर उसने कुछ बढ़ा दिया।

हम कह सकते हैं कि श्याम ने रुपये से बुद्धिमानी का व्यवहार किया और श्याम राम से होनहार है। मान लो, उसकी कन्दीलें धेले की भी न बिक सकी, फिर भी यही कहना होगा कि श्याम राम से होशियार है। उसने घाटे में रह कर भी रुपये में अधिक मूल्य डाला।

प्रत्येक व्यय एक प्रकार की प्राप्ति है। हम रुपये देते हैं तो कुछ और चीज पाते हैं। ऐसा हो नहीं सकता कि हम दें और लें नहीं। और कुछ नहीं तो यह गर्व और सम्मान ही हम लेते हैं कि हम कुछ ले नहीं रहे हैं। बिना हमें कुछ प्रतिफल दिये जब रुपया चला जाता है, तब हमें बहुत कष्ट होता है। रुपया खो गया, इसके यही माने हैं कि उसके जाने का प्रतिदान हमने कुछ नहीं पाया। जब रुपया गिर जाता है, चोरी चला जाता है, डूब जाता है, तब हम को बड़ी चोट लगती है। एक पैसा भी बिना प्रतिदान में हमें कुछ दिये हमारी जेब से यदि चला जाय तो उससे हमें दुःख होता है। यों, चाहे हजारों हम उड़ा दें। उस उड़ाने में दर असल हम उस उड़ाने का आनन्द तो पा रहे होते हैं।

इस भांति प्रतिफल के बिना कोई व्यय असंभव है। किंतु, प्रतिफल के रूप में और उसके अनुपात में तर-तमता होती है। और उसी तर-तमता के आधार पर कुछ व्यय अप व्यय और कुछ व्यय 'इन्वेस्टमेंट' हो जाता है।

ऊपर श्याम का और राम का उदाहरण दिया गया है। श्याम ने अपने रुपयेमें से चार आनेका प्रति-फल जान बूझ कर अपने से दूर बना लिया। उस प्रति-फल और उस चार आने के व्यय के बीच में उसने कन्दील बनाने और उसे बाजार में जाकर बेचने आदि श्रम के लिए जगह बना छोड़ी। इसलिए वह चार आने का 'इन्वेस्टमेण्ट' कहा गया और श्याम को बुद्धिमान समझा गया।

परिणाम निकला, प्रत्येक खर्च वास्तव में उपार्जन है यदि उस व्यय के प्रतिफल में कुछ फासला हो और उस फासले के बीच में मनुष्य

का श्रम हो। इसी को दूसरे शब्दो में यह कह सकते है कि मनुष्य और उसके श्रम के प्रतिफल के बीच मे आकाक्षा की संकीर्णता न हो। अपनी तुरंत की अभिलाषा को तृप्त करने के लिए जो व्यय है, वह उतना ही कोरा व्यय अथवा अपव्यय है और उतना ही कम उपार्जन इन्वेस्टमेण्ट अथवा सद्-व्यय है। अर्थात् प्रतिफल की दृष्टि से अपने व्यय मे जितनी दूर का, भोग की जगह उपयोग का, हमारा नाता है उतना ही उस व्यय को हम उपार्जन या इन्वेस्टमेण्ट का रूप देते है।

इस बात के अगले परिणाम पर पहुचे इससे पहले यह जरूरी है कि इसको ही खुलासा करके समझे।

हमारे पास रुपया है, जो कि हमारे पास रहने के लिय नही है। वह अपने चक्कर पर है। हमारे पास वह इसलिये है कि हमारी जरूरतो को पूरा करने मे साधन बनने के बाद हममें अतिरिक्त स्फूर्ति डालने और हमे श्रममें प्रवृत्त करने में सहयोगी बने। हम जिये और कार्य करें। इस जीवन कार्य की प्रक्रिया में ही रुपये की गतिशीलता घटित और सार्थक होती है।

स्पष्ट है कि रुपया असल अर्थ मे किसी का नही हो सकता। वह चांदी का है। वह प्रतीक है। उसका बधा मान है। वह निश्चित-सामर्थ्य का द्योतक है। सामर्थ्य यानी इनर्जी (energy) जब तक वह रुपया इनर्जी का उत्पादक है, तभी तक वह ठीक है। जब इनर्जी उससे नही ली जाती, उसे अपने आप मे माल और दौलत समझ कर बटोरा और जमा किया जाता है, तब वह रोग का कारण बनता है।

जिसको इन्वेस्टमेण्ट कहा जाता है वह उस रुपये के इनर्जी-रूप को कायम रखने की ही पद्धति है। उसका हस्तातरित होते रहना गति-चक्र को बढाने और तीव्र करने में सहायक होता है। यानी इस हाथ से उस हाथ जाने की क्रिया में पैसा पहले हाथ से गया, खर्च हुआ, और दूसरे में आया, यानी आमद हुई, यह समझा जाता है। इस पद्धति मे वह किंचित कही ठहरता भी है। वास्तव मे गति अवस्थान के बिना

सम्भव नही होती । चेतन व्यक्त होने के लिये अचेतन का आश्रय लेता है । इनर्जी अपने अस्तित्व के लिये 'डेडमैटर' की प्रार्थिनी है । पर जैसे नीद जागरण के लिये आवश्यक है—नीद अपने आप मे तो प्रमाद ही है,—जागरण की सहायक होकर ही वह स्वास्थ्य-प्रद और जरूरी बनती है; वैसे ही वह सचय है जो किसी कदर पैसे की चाल को धीमा करता है । किन्तु, प्रत्येक व्यय यदि अन्त मे जाकर 'इन्वेस्टमेण्ट' नही है, तो वह हेय है । हम भोजन स्वास्थ्य के लिये करते है और सेवा के कार्य के लिये हमे स्वास्थ्य चाहिये । इस दृष्टि से भोजन पर किया गया खर्च उपार्जन बनता है । अन्यथा, रसना लोलुपता की वजह से भोजन पर किया गया अनाप-शनाप खर्च केवल व्यय रह जाता है और वह मूर्खता है । वह असल मे एक रोग है और भांति-भाति के सामाजिक रोगो को जनमाता है ।

जहा-जहा व्यय मे उपयोगबुद्धि और विवेक-बुद्धि नहीं है, जहा-जहा उसमे अधिकाधिक ममत्व बुद्धि है, वहा ही वहा मानो रुपये के गले को घोटा जाता है और उसके प्रवाह को अवरुद्ध किया जाता है । सच्चा व्यवसायी वह है जो रुपये को काम मे लगाता है और अपने श्रम का उसमें योग दान देकर उत्पादन बढ़ाता है । सच्चा आदमी वह है जो कर्म करता है और कर्म के फल-स्वरूप और कर्म करता है । हम देखते आ रहे है कि वह व्यक्ति रुपये का मूल्य उठाना नही जानता जो उसे बस खर्च करता है । रुपये की कीमत तो वह जानता है जो उसे खर्च करने के लिये ही खर्च नही करता, प्रत्युत मेहनत करने लिये खर्च करता है । रुपये के सहारे जितना अधिक श्रम उत्पादन किया जाय, उतनी ही उसकी सार्थकता है ।

हमने ऊपर देखा कि पैसे का पूँजी बन जाना और खर्च का कमाई हो जाना उसके प्रति फल से अपना यथासाध्य अन्तर रखने का नाम है । स्पष्ट है कि वैसे फासले के लिए किसी कदर बेगरज़ी की ज़रूरत है । मनुष्य की गरज़ उसे दूरदर्शी नहीं होने देती । गरजमन्द पैसे के

मामले में सच्चा बुद्धिमान नही हो सकता । हम यह भी देख सकेंगे कि मनुष्य और उसकी जरूरतो के बीच में जितना निस्पृहता का सम्बन्ध है उतना ही वह अपने 'इन्वेस्टमेण्ट' के बारे मे गहरा हो जाता है । जो आकांक्षा-त्रस्त है, विषय प्रवृत्त है, वह रुपये के चक्र को तग और सकीर्ण करता है । वह समाज की सपत्ति का ह्रास करता है । वह इनर्जी को रोकता है और इस तरह विस्फोट के साधन उपस्थित करता है । प्रवाही वस्तु प्रवाह मे स्वच्छ रहती है । शरीर में खून कही रुक जाय तो शरीर-नाश अवश्यम्भावी है । जो रुपये के प्रवाह के तट पर रह कर उसके उपयोग से अपने को स्वस्थ और सक्षम बनाने की जगह उस प्रवाही द्रव्य को अपने मे खीचकर सचित कर रखना चाहता है वह मूढता करता है । वह उसकी उपयोगिता का हनन करता है और अपनी मौत को पास बुलाता है ।

आदर्श अलग । हम यहा व्यवहार की बात करते है, उपयोगिता की बात करते है । दुनिया क्यो न स्वार्थी हो ? हम भी स्वार्थ की ही बात करते है । प्रत्येक व्यक्ति क्यो न समृद्ध बने ? यहा भी उसी समृद्धि की बात है । हम चाहते है कि प्रत्येक व्यक्ति व्यवसायी हो और हर एक व्यवसायी गहरा और अधिकाधिक कुशल व्यवसायी बने । हम देखते है कि व्यवसायी ही है जो मालदार है । यह अहेतुक नही है । यह भी हम जान रखे कि कोई महापुरुष, ऊचा पुरुष, अव्यवसायी नही होता । हा, वह जरा ऊंचा व्यवसायी होता है । हम यही दिखाना चाहते है कि दुनिया में अच्छे से अच्छा सौदा करना चाहिए । कोई हर्ज नही अगर दुनिया को हाट ही समझा जाय । लेकिन जिसके बारे मे एक भक्त कवि की उक्ति उलहने में कही जा सके कि उसने—

"कौड़ी को तो खूब सँभाला लाल रतन को छोड़ दिया ।"

उस आदमी को बता देना होगा कि लाल रतन क्या है और क्यों कौडी से उसे सतुष्ट नही होना चाहिये ।

हमारी गरज आखो को बाध देती है । ईश्वर की ओर से मनुष्य

की अज्ञानता के लिए बहुत सुविधा है। बहुत कुछ है जहां वह भरमा रह सकता है। लेकिन भ्रमने से क्या होगा? हम अपने ही चक्कर मे पड़े है। जैसे फुलझड़ी जला कर हम रंग-बिरंगी चिनगारियो को देखते हुए खुश हो सकते है, वैसे ही अगर चाहे तो अपनी जिन्दगी मे आग लगा कर दूसरो के तमाशे का साधन बन सकते है। लेकिन पैसे का यही उपयोग नही है कि उसकी फुलझड़ी खरीदी जाय, न जीवन का उपयोग ऐश और आराम है। धन-सचय से अपनी सामर्थ्य नही बढ़ती। धन की भी सामर्थ्य कम होती है। इनर्जी को पेट के नीचे रखकर सोने मे कुशल नही है। ऐसे विस्फोट न होगा तो क्या होगा?

पैसा नष्ट नही होता। इससे यथार्थ मे वह खर्च भी नही होता। पर अपने को उसके जरिये हम चुकाते है तब वह खर्च ही है। अपने मे शक्ति लाते है, तब वह खर्च उपार्जन है। पैसा सवर्धन के लिये है। संवर्धन, यानी जीवन सवर्धन। धन का व्यय जहा सवर्धनोन्मुख नही है, वहा वह असामाजिक है, अत पाप है। विलासोन्मुख व्यय से सपत्ति नही, दीनता बढती है।

धन मे लालसा उस धन की उपयोगिता को कम करती है। प्रतिफल मे हमारी गरज जितनी कम होगी, उतना ही हमारे और उसके बीच फासला होगा, उतना ही उसमे श्रम समा सकने का अवकाश होगा। उस फासले के कारण वह फल उतना ही बृहद् और मानव के उद्यम द्वारा गुणानुगुणित होता जायेगा। वह गम्भीर और सत्य व्यवसाय है जहा कर्म का और व्यय का प्रतिफल दूर होते-हाते अन्तिम उद्देश्य से अभिन्न अप्रथक हो जाता है। जहां इस भाति फलाकांक्षा रहती ही नही। विज्ञान के, व्यवसाय के, और अन्य क्षेत्रों के महान् पुरुष वे हुए है, जिन्होने तात्कालिक लाभ से आगे की बात देखी, जिन्होंने मूल-तत्व पकडा और जीवन को दायित्व की भांति समझा, जिन्होने नही चाहा विलास, नही चाहा आराम, जिन्होंने सुख की ऐसे ही परवाह नही की, जैसे दुख की। उनका तमाम जीवन ही एक प्रकार की पूंजी, एक

प्रकार की समिधा, इन्वेस्टमेण्ट बन गया। उनका जीवन बीता नही, वह हविष्य बना और सार्थक हुआ। क्योकि वे एक पुकार के प्रति, आदर्श के प्रति, एक उद्देश्य के प्रति समर्पित हुये।

अर्थशास्त्र के गणित को फैलाकर भी हम किसी और तत्व तक नही पहुँच पाते। यो अर्थशास्त्र अपने आप में सम्पूर्ण एव स्वाधीन विज्ञान नही है। वह अधिकाधिक राजनीतिगत है, पोलिटिक्स है। पोलिटिक्स अधिकाधिक समाज-शास्त्र (Social Science) है। समाज-शास्त्र अधिकाधिक मानस-शास्त्र (Psychology) के प्रति सापेक्ष होता जाता है। मानस-शास्त्र की भी फिर अपने आप मे स्वतन्त्र सत्ता नही है। क्योकि व्यक्ति फिर समाज मे और उसका खण्ड है। और जो कुछ वह अब है उसमें समाज की तात्कालिक और तादेशिक स्थिति का भी हाथ है। इस तरह फिर अर्थ का शास्त्र, मानस-शस्त्र, प्राणि-शास्त्र और समाज-शास्त्र आदि के प्रति परस्परावलम्बित है।

अर्थ-शास्त्र के आंकिक सवाल बनाने और निकालने में हम उसके चारों ओर कोई बन्द दायरा न खडा कर ले। ऐसे हम उसी चक्कर के भीतर चक्कर काटते रहेगे, और कुछ न होगा। यह ठीक नही है। यह उस विज्ञान को सत्यकी सत्यता से तोड़कर उसे मुरझा डालने के समान है।

ऊपर हमने देखा है कि व्यावहारिक रुपये पैसे के उपयोग का नियामक तत्व लगभग वही है जो गीता का अध्यात्म मन्त्र है—अनासक्ति, निष्कामता। इस निष्कामता की नीति से कर्म का प्रतिफल नष्ट नही होता, न वह ह्रस्व होता है। प्रत्युत इस भाति उसके तो असंख्य गुणित होने की ही सम्भावना होजाती है। अत्यन्त व्यावहारिक व्यवहार में यदि वह तत्व सिद्ध नही होता है कि जिसे अध्यात्म का तत्व कहा जाता है, तो मान लेना चाहिये कि वह अध्यात्म में भी असिद्ध है अ-यथार्थ है। अध्यात्म नही चाहिये पर व्यवहार तो हमे चाहिये। व्यवहार से असगत अध्यात्म का क्या करना है। वह निकम्मा है। गीता में भी तो कहा है—'योग. कर्मसु कौशल'।

इस दृष्टि से व्यक्ति यह न कह पायेगा कि सम्पत्ति उसकी है। इसमे सम्पत्ति की वाढ रुकेगी। खून रुकने से रोग होगा और फिर अनेक उत्पातों का विस्फोट होगा।

हमें अपने व्यवहार में व्यक्तिगत भाषा से क्रमशः ऊचे उठते जाना होगा। हम कहेगे सम्पत्ति व्यक्ति की नही, वह सहयोग समितियों की है। कहेगे, वह श्रमियों की है। कहेगे वह समस्त समाज की है, जो समाज कि राष्ट्र सभा मे प्रतिबिम्बित है। कहेगे कि वह राष्ट्र की है। आगे कहेगे कि राष्ट्र क्यों, वह समस्त मानवता की है। इसी भाति हम बढते जायेगे। अन्त तक हम देखते जायेगे कि बढने की अब भी गुजायश है। किन्तु ध्यान रहे कि निराशा का यहा काम नही, व्यग्रता को भी यहा स्थान नही। हम पाने के लिये तैयार रहे कि यद्यपि बुद्धि सगत (Rational) आदर्श मे बढ़-चढ़ कर हम मानवता से आगे विश्व और समष्टि की धारणा तक पहुंच सकते हैं। पर समष्टि कहने से व्यष्टि मिटता नही है। व्यक्ति भी है ही। वह अपने निज मे अपने को इकाई अनुभव करता है। समष्टि हो पर वह भी है। उसे इन्कार करोगे तो वह समष्टि को इन्कार कर उठेगा। चाहे उसे इसमे मिटना पड़े, पर वह स्वय अपने को कैसे न माने? ऐसी जगह मालूम होगा कि व्यक्तित्व की धारणा को ब्रह्माण्ड मे भी चाहे हम व्याप्त देखे, पर पिण्ड मे भी उसे देखना होगा। और उस समय विश्व-समष्टि आदि शब्दों से भी असन्तुष्ट होकर हम कहेंगे कि जो है, सब परमात्मा का है, सब परमात्मा है। यह मानकर व्यक्ति अपनी सत्ता मे सिद्ध भी बनता है। और वह सत्ता समष्टि के भीतर असिद्ध भी होजाती है। विचार की दृष्टि से तो हम देख ही ले कि इसके बिना समन्वय नही है। इसके इधर-उधर समाधान भी कही नही है। व्यक्तिगत सम्पत्ति के भाव का उन्मूलन तभी सम्भव है जब हम माने कि व्यक्ति की इच्छायें भी उसकी अपनी न होंगी, वह सर्वांशतः परमात्मा के प्रति समर्पित होगा।

इसलिये लोगों से कहना होगा कि हां, नेशनलिजेशन, सोशलिजेशन के लिये तैयार रहो। तैयार क्यों, उस ओर बढो। लेकिन मालूम होता है कि सोशलिजेशन वालो से भी कहना होगा कि देखो भाई, उसके आगे भी कुछ है। उसके लिये भी हम सब उद्यत रहे, सचेष्ट रहे। फार्मूला कुछ बनाया है, इसमें हरज नही, पर फार्मूला फार्मूला है। फार्मूले से कही बहुत चिपट न जाना। ऐसे वह बन्धन होजाता है।

५

श्रमण और ब्रह्मण संस्कृति

समय चलता रहता है और चीजे बदलती रहती है। हर घड़ी कुछ-न-कुछ होता है। यानी जीवन गतिशील है और जगत परिणमनशील। सागर की तरह सम्पूर्ण संसार तरगमय है, स्थिर कही कुछ नही है। अखिल ब्रह्माण्ड स्पन्दनशील है।

किन्तु अपनी ही गति पर अधिकार रखनें और विवेक करने के लिए हमने दो शब्द बनाए हैः—अवनति और उन्नति। गति जो नीचे की ओर है, अनिष्ट है। वह विकास मे सहायक नही। वह अवरोध और असामंजस्य पैदा करती है। दूसरी जो इष्ट है, सामंजस्य पूर्ण है। उसे प्रगति और उन्नति कह सकते है।

राजनैतिक इतिहास मानव-जाति की हलचलों को आकता और प्रकट करता है। हलचल अपने आप मे सार्थक नही होती। जरूरी है कि वह प्रगति की दिशा मे हो और उधर हमे बढावे। इससे राजनैतिक हलचलों को जांचने के लिए फिर एक मान की आवश्यकता है। वह मान है संस्कृति। प्रगति की परख के मूल-मान (Values) सांस्कृतिक है।

पर 'संस्कृति' शब्द मे भी झमेला है। उसके साथ तरह-तरह के विशेषण लगे है। प्राच्य-पाश्चात्य, आर्य-अनार्य, हिन्दू-मुस्लिम, वैज्ञानिक-आध्यात्मिक, एतद्देशीय और इतरदेशीय। इन विशेषणो से उलझन पैदा होती है। कभी-कभी 'संस्कृतियां' आपस मे झगड़ती और टकराती भी दीखती है। पर संस्कृति जब तक संस्कृति है, फिर कोई विशेषण उसके

साथ हो, टक्कर में नही आयगी। अपने नाम के प्रति सच्ची रहकर वह सदा समन्वय साध लेगी। सामजस्य खोज लेगी, जिनमें टक्कर हो वे चीजें संस्कृति ही नही। संस्कृति का विरोध केवल विकृति से है। इस तरह पूर्व मे और पश्चिम में, आर्य-जाति और इतर जाति में, हिन्दू मे और मुस्लिम में, विज्ञान और अध्यात्म में जो तत्व सस्कारी है, वे आपस मे टकरा नही सकते। फिर भी यदि टक्कर है और क्लेश है तो विकृति के कारण है और विकृतियों मे ही है। अन्यथा तो रूप और आकार-प्रकार के भेद से अन्तरङ्ग मे भेद पड़ना जरूरी नही है। संस्कृति तो है ही वह जो भेद से पभेद और अनेकता से एकता की ओर चलती है। अपने को दूसरे मे और दूसरे को अपने मे देखने की साधना सस्कारिता है। सस्कारिता सब देश और काल मे एकार्थवाची है। शब्द ही है जो उसके लिए भिन्न-भिन्न इस्तैमाल हो सकते और होते है।

संस्कृति इस तरह मानव-जाति की वह रचना है, जो एक को दूसरे के मेल मे लाकर उनमें सौहार्द की भावना पैदा करती है। वह जोड़ती और मिलाती है। उसका परिणाम व्यक्ति में आत्मोपमता की भावना का विकास और समाज का सर्वोदय है।

इसके विपरीत जो फोडती और फाड़ती है विकृति है। उसमे अपनी-अपनी निजता पर इतना जोर होता है कि समग्रता का ध्यान नही रहता। नतीजा यह कि हरेक अपनी निजता की रक्षार्थ दूसरे की निजता को खण्डित करता है। उसमें बराबरी और बढ़ाबढी रहती है। दूसरे से खुद को बढ चढ कर मानने और दिखाने की वृत्ति उसमें गर्माई रहती है। समता के वह विरुद्ध है और ऊँच-नीच, बड़े-छोटे का भेद उसमें तीव्र होता जाता है। अहंकार मे उसकी नीव है। अहंकार जरूरी तौर पर वह चीज है, जिसको सघर्ष में और मुकाबिले मे तृप्ति है। अभिमान को स्वाद दूसरे के अपमान में मिलता है।

संस्कृति और विकृति को अन्दर की ओर से इस तरह आसानी से परखा जा सकता है। संस्कृति की आत्मा एक है। नाम-रूप चाहे अनेक

हो। विकृति भी भीतर से एक समान है । नाम-रूप उसके भी अनेक हो सकते है। संस्कृति है अहिंसा। विकृति की शर्त है हिंसा।

शब्द झमेला पैदा किया करते है। उनको सूचक रूप में जो हम नही लेते। शब्दो को ही यथार्थ मान बैठते है । परिणाम यह कि वे आवश्यकता से अधिक महत्व प्राप्त कर लेते है । सत्य भाव में है और इस तरह वह हृदय में है । शब्द में वह थोड़े ही है । शब्द में सचाई वही तक है जहाँ तक उसमें हृदय और भावना की सचाई है । अन्यथा तो शब्द विग्रह और कलह के काम आते है। तभी तो असत्य अधिक सशब्द और मुखर होता है। मिथ्या के प्रागल्भ्य के आगे सत्य तो मूक हो रहता है। इस तरह आवेश और आग्रह में शब्दों को इतना ठोस और कठोर बना दिया जाता है कि वे आपस में टकरा कर चिनगारी उत्पन्न करने लगते है। 'वादों' मे अवसर भाषा के साथ यही बीतता है । वहाँ शब्दों को धार और किनार दे दी जाती है । उससे उनकी ऋजुता, आपस में घुल-मिल जाने, पिरो रहने की उनकी शक्ति नष्ट हो जाती है। वाद से इसीलिए विवाद उपजता है। प्रत्येक मतवाद एक ऐसे समुदाय को जन्म देता है, जो दूसरे मतवादियो से मोरचा लेने को उद्यत हो। ऐसे साम्प्रदायिकता बनती और मजबूत होती है। ये दायरे अपने आप मे बन्द और सँकरे पडकर औरो के प्रति असहिष्णु हो जाते है और जीवन के प्रवाह और विकास में अवरोधक बनते है।

अहिंसा की बौद्धिक संज्ञा है 'अनेकांत'। अर्थात् समस्त भाषा सापेक्ष है। कथन सब अमुक अपेक्षा से ही सत्य है । पूर्ण सत्य कोई नही है । इस पद्धति से कोई मत अपने आप में सच या झूठ नही रहता । प्रत्येक मत की सत्यता आपेक्षिक, सापवाद और सहिष्णु हो जाती है । संस्कृति की इस तरह पहली शर्त है, मत मात्र के प्रति सहानुभूति और समभाव। उसी को दूसरे शब्दोंमें कह सकते है,व्यक्ति मात्र के प्रति प्रीति और सद्भाव। पहले में अहिंसा का बौद्धिक पर्याय है, तो दूसरे में हार्दिक। दोनों अन्योन्याश्रित है। व्यक्ति के प्रति सहानुभूतिशील होने में अनायास ही मत के

प्रति सहिष्णु होना समो जाता है। विचारो के प्रति जिसमें कट्टरता है, व्यक्तियों के प्रति भी उसमे अधिकाश राग-द्वेष ही रहता है।

अब अहिंसा कोई कोरा सिद्धान्त नही है । सिद्धान्त होकर अहिंसा स्वय एक मतवाद हो जाती है। अहिंसा का वादी दूसरे और वादियों से विशेष भिन्न नही रहता । तब अहिंसा एक गिरोह के लिए नारा बन रहती है। यहाँ तक हो सकता है कि हिंसा के निमित्त ही अहिंसा का जयघोष किया जाय । किन्तु सस्कृति को शब्द से नही, सार से काम है। इसी से हमें अहिंसा के उच्चार से अधिक आचार की ओर ध्यान देना होगा।

आज की समाज-रचना अहिंसा की बुनियाद पर नहीं है । उसमे दल है, पक्ष है और विषमता है। आपसी सम्बन्ध कुछ ऐसे आधार पर बने है कि स्नेह कठिन और शोषण सहज होता है । एक की हानि में दूसरे का लाभ है, और एक पक्ष उभरता है तो तभी जब कि दूसरा दबता है। इन सम्बन्धो के आधार पर जो समाज का ढांचा आज खडा है, उसमें हम देखते है कि प्राणशक्ति का बहुत नाश और अपव्यय होता है। अधिकाश आदमियो की सम्भावनाएं व्यर्थ जाती है । एक सफल होता है तो अनेकों को असफल बना कर। इस तरह उस एक की सफलता स्वय व्यंग हो रहती है। ऐसी समाज-व्यवस्था में जो सभ्यता, सस्कृति और संस्कारिता फलती है, वह मानव-जाति को बडी मँहगी पड़ती है। इसी में सन्देह है कि वह वास्तव में सस्कारिता होती है। निस्सन्देह आज सुघराई की कमी नही है। नफासत की एक-से एक बढकर चीजें लीजिये। शबनम के वस्त्र। सपने हारे, ऐसी फैंसी चीजे, सुख-विलास के अनेक आविष्कार। आमोद प्रमोद के अगणित प्रकार। कहा तक गिनिएगा। कला-कौशल का भी कम विकास नही है। किताबें बहुत है और अखबार बहुत है और सिनेमा बहुत है। इस प्रकार शालीनता और शिष्टता और आभिजात्य के वैभव का आज वैपुल्य है । बडे शहरो की फैसी

सोसायटी मे जाने से पता चलेगा कि रुचि किस बारीकी और रंगीनी और ऊँचाई तक पहुँची है।

लेकिन क्या उससे सन्तोष हो? ड्राइंग-रूम की भव्यता मनोहर और सुखद हो सकती है, लेकिन उस रूम से बाहर अगर गन्दगी और सड़ांद फैली हो तो ड्राइंग-रूम का सुख कितने दिन का और किस काम का? क्या भला उसमे कोई बन्द हो सकता भी है, या उसमे भूला रह सकता है? और जो रह सकता है क्या वह व्यक्ति ईर्ष्या के योग्य है?

समग्रता की दृष्टि से विचार करते है तो कुछ ऐसा ही भाव मन मे उठता है। उन मुट्ठी भर लोगों की सुघराई, जो चारों ओर के अभाव और दरिद्रता के बीच में भी अपने लिए भोग और विलास की सामग्री जुटा लेते है, क्या बहुत अभिनदन की चीज़ है? क्या हम मान लें कि वैसी सुघराई में मानवता की सिद्धि है? नही, यह मान लेना कठिन होता है। मन कहता है कि सब चमक-दमक और रौनक के बावजूद इस सब सम्भ्रात शिष्टता में असलियत उतनी नही है। ऊपर से जो सुन्दर है, भीतर से वही शान्त नही है। सौंदर्य वह आवेश का है और आनद-प्रमोद भी, वह मुक्त नही है। मन तक उस आनद का उल्लास नही पहुचा है। न शिष्टाचार की मिठास ही भीतर तक पहुची हुई दिखाई देती है। व्यवहार की वह शालीनता स्वार्थ पर दबाव पड़ने पर सहज ही जवाब दे जाती है। तब जो अत्यन्त सम्भ्रात प्रतीत होता था, उसी में भीतर की कर्कशता और परुषता दिखाई दे जाती है।

और इसका कारण है। हरेक के पास कुछ अपना स्वत्व है। वह स्वत्व पुष्ट और सुरक्षित है, तब तक व्यक्ति अनायास सज्जन है। लेकिन आज की समाज-व्यवस्था में जैसे हरेक को अपने स्वत्व के बारे में हर घड़ी चौकन्ना रहना होता है कि कोई उस पर हाथ न डाले। वह अपने स्वत्व को चारों ओर से हवा मे खुला नही रख सकता। उसे सुरक्षा की तरह-तरह की प्राचीरें देनी होती है। तब कही वह अपने स्वत्व को लेकर स्वस्थ हो पाता है। अदालत और पुलिस, जेल और कानून, इस तरह

शक्ति और न्याय की अनेकानेक सस्थाए अपने चारो ओर खड़ी करके उनके घेरे के भीतर वह अपने स्वत्व का प्रदर्शन और उपभोग कर पाता है। इतने पर भी उसके मन की शका जैसे उससे दूर नही होती है। उसके अपने एक स्वत्व के कारण जो अनेक स्वत्वहीन होकर समाज मे विचर रहे हैं, उनका खतरा मानो उसे सशंक ही रखता है। इस तरह उसके उल्लास मे भी सशय का और विलास मे व्यथा का मिश्रण रहता है। वह समाज जहा प्रत्येक के स्वत्व में आपस में विग्रह है, विरोध और स्पर्द्धा है, वहां सर्वत्व का भाव समृद्ध कैसे हो सकता है? और जहाँ पर प्रत्येक का स्वत्व सर्वत्व की समृद्धि में योगदान नही करता, वहां संस्कृति का समर्थन और स्थिरता कहाँ? मानना चाहिए कि वह एक इमारत है, जो वेबुनियाद है, इससे कभी भी ढह सकती है। उस इमारत मे ईंट-से-ईंट जुडी हुई नही है। इससे कौन जानता है कि कब वे ईंटें आपस मे बज न उठेंगी।

आँखो आगे तो महायुद्ध होकर चुका है। उसका उपसहार अब बीत रहा है। फल बीज से दूसरा नही होता। इससे उपसहार युद्ध-सहार के अनुकूल हो तो क्या असम्भव? पर मानने की इच्छा है, और उसके कारण भी है, कि मानव जातिका अब एक जन्म,एक युग बीता। अब नव जन्म होगा। एक नये युग का आविर्भाव होगा नई आशाए और नया संकल्प लेकर। जीर्ण की चिता मे से हम नूतन का निर्माण करेंगे और उसका दिन कल नही आज है।

आज हमको भविष्य के लिए समाज को बुनियाद देनी है। वह बुनियाद कि जो अटल और अडिग हो। उस पर ऐसी समाज-रचना खडी करनी है कि जिसमें हर व्यक्ति का स्वत्व समाज के सवत्व को पुष्ट करे। हरेक की निजता परस्पर अनुकूल हो। हरेक की शक्ति हरेक को समृद्ध वनाने में लगे। किसी एक की भी शक्ति का उपयोग दूसरे को व्यर्थ करने में न हो पाये। होड़ाहोड़ में मानव प्राणो का दुरुपयोग न हो। सहयोग और सहोद्यम में जुटकर उस चैतन्य शक्ति का अधिकाधिक

सदुपयोग और सुफल हो। यह अहिंसक समाज-रचना होगी। इसमें कोई रंक न होगा, इससे राजा भी न होगा। दीन न होगा, इससे दानी की भी आवश्यकता न होगी।

पर यह काम अहिंसा के मन्त्रोच्चार से नहीं हो जानेवाला। मुह पर नही, अहिंसा को कर्म में लाना होगा। तब हमसे अहिंसक संस्कृति का प्रादुर्भाव होगा। अहिंसक को मैं कहूगा श्रमण संस्कृति। श्रमण अर्थात् श्रम पर आधार रखने वाली। श्रमण नही, वह हरण है। जो श्रम पर आधार नही रखती है, वह जरूर फिर हरण पर आधार रखती है। उसमें श्रम स्वय किया नही जाता, अन्य के श्रम का हरण किया जाता है। हरण के आधार पर जो सस्कृति खड़ी होगी, वह निश्चय ही अपाहिज है। वह तो दूसरे के कन्धे पर बैठकर चलती है। दूसरे ने अपना कन्धा देना और झुकाना बन्द किया कि बेचारी कही की न रह जायगी। तब वह मुंह के बल आ रहेगी। उससे और कुछ करते न बनेगा। बेशक दूसरे का कन्धा बैठने को, या दूसरे का श्रम अपने उपभोग को, मिलते रहने से आराम तो खूब हो जाता है। हमारे पैर तब धरती को छूते भी नही है और हम ऊचे हो जाते है। पावो को जो चलना नही पडता, इससे वुद्धि अच्छी चलती है। आसानी से दिमाग आस्मानी ऊचाइयो की ओर उठता है। उससे स्वभाव मे प्रभुता जागती और शील का भी उदय होता है। तब बारीक ख्याली भी आती है और कल्पना आदर्श की ओर उड़ान ले सकती है। पर यह भी है कि ये सुभीते छन मे छिन सकते है और सपन धूल मे आ मिल सकते है। देर नीचे वाले को यह पहचानने की है कि ऊपर वाले की तरह वह भी आदमी है।

आदमी और प्राणियों की तरह नही है। पक्षियों के पङ्ख है और वे उड़ते है। पशुओं को भी प्रकृति ने तरह-तरह की सुविधाएं दे दी है। बनैले जानवरो के वदन मे कस है, नख और दन्त है, कि शिकार आसानी से कर लें। या नही तो सीग और खुर और पूछ है। किसी को कुछ पहनने की जरूरत नहीं है। पैदा होने के साथ ही लगभग हर पशु स्वाधीन

है। पशु का अवसर है कि वह अपने ही को माने और अपने ही लिए जीये। मनुष्य की वह हालत नहीं है। एक तरह से वह हीनतर प्राणी है। बदन मे उसके उतना दम नही। पैने नाखून और दात नही। न सींग और पूछ। न खाल इतनी मोटी और रूंएदार कि सर्दी-गर्मी सह ले। वह बना ही ऐसा है कि केवल अपने बस पर और अपने ही लिए नही रह सकता। अनायास उसको खाना नही मिल जाता। प्रकृति से ज्यों-का-त्यों भोजन पा लेने का उसे सुभीता नही है। इस सबके लिए उसे श्रम करना पडता है। यह श्रम फिर सम्मिलित रूप में होना ज़रूरी है। एक अकेले का श्रम कुछ उत्पादन नही कर सकता। आदमी के लिए जैसे श्रम अनिवार्य है, वैसे श्रम म सहयोग अनिवार्य है। अन्यथा इन्सान का जीवन असम्भव है। प्रकृति की ओर से मिली हुई इस लाचारी में से इन्सान में बुद्धि और विवेक का जन्म हुआ। इस तरह से इन्सान जगली नही रहा सामाजिक बना।

जगल मे हरेक की स्वतन्त्रता सम्पूर्ण है। हरेक को हक है कि वह हर दूसरे को फाड़ खाय। वहाँ एक के निकट उसका अपनापन ही सत्य है। परस्परता का वहाँ उदय ही नही है। 'जीवो जीवस्य भोजनम्'—यही वहाँ की सचाई है। पर आदमी अपने साथ दूसरे की निजता को भी पहचानने के लिए लाचार है। 'पर' में स्व' बुद्धि रखने के अभ्यास के लिए वह विवश है। यही से अहिंसा का आरम्भ है।

कहने की आवश्यकता नही कि अहिंसा के लिए श्रम अनिवार्य है। प्रकृति अपने को आदमी के समक्ष उपस्थित करके स्वय छूट जाती है। पर प्रकृति की देन ज्यो-की-त्यो आदमी के उपयोग मे नही आती। अन्न को बटोरना, सुखाना, कूटना, पीसना आदि होता है। आगे और अनेक उपचार है। तब कही प्रकृति का अन्न मनुष्य का खाद्य बनता है। इसी तरह कपास को कपड़े के रूप मे लाने तक तरह-तरह के उद्यम उस कपास के साथ आदमी को करने पड़ते है। अर्थात् आदमी के उपयोग में आने वाली प्रत्येक वस्तु सम्मिलित श्रम का फल है। यह सम्मिलितता

यदि अखण्ड और स्थिर रहनी है तो जरूरी है कि समाज का कोई सदस्य अपने हिस्से के आवश्यक श्रम से बचे नही। जो श्रम से स्वयं बचता है, वह दूसरे शब्दों मे अपने हिस्से का श्रम दूसरे के सिर पर लादता है। श्रम से बचने की इच्छा ही इस तरह समाज मे विषमता और शोषण का बीज बोती है। वही से हिंसा के कीटाणु का प्रवेश मानिये। अहिंसा की चरितार्थता इस तरह स्पष्ट ही है स्वेच्छित श्रम मे। दूसरे के प्रति सहानुभूति की कमी होगी तभी हम स्वय श्रम से बचना चाहेगे। मन दूसरे के लिए प्रीति से भरा होगा तब श्रम से अरुचि तो हमे होगी ही नही। उल्टे लगन होगी कि हमसे जितना श्रम बन सके अच्छा। सबके श्रम का फल सबको मिले तो इसमे शङ्का नही कि किसी को किसी तरह की कमी न रहे। कठिनाई एक ओर तो यह होती है कि सब श्रम नही करते। दूसरी ओर से यह कि उसका फल हिसाब से नही बंटता। यही क्यों, यथार्थता तो यहाँ तक है कि जो श्रम करते है, फल उन्ही को नही के बराबर मिलता है। और जो अपेक्षाकृत श्रम नही ही करते है, उन्हे इतना अधिक मिलता है कि श्रम करना फिर उनके और उनकी सतति के लिये असम्भव होजाता है। तब श्रम करने की जगह श्रम कराना ही उन्हे अपना हक और पेशा जान पड़ता है। ऐसे समाज की सम्मिलितता भङ्ग होकर उसमे श्रेणी और दल पड़ जाते है। एक दल जो सिर्फ सिर और कन्धे झुका कर मेहनत करना जानता और उसी को अपना भाग्य मानता है। जो टुकड़ा उसके आगे डाल दिया जाय उसी पर वह पेट पालता है। यह वर्ग धीरे-धीरे पालतू चौपायों की हालत तक पहुँचता जाता है। दूसरी तरफ़ वह दल जो दूसरे की मेहनत के बल पर सिर्फ़ फ़ुरसत मे जीता है। खाली दिमाग मे, कहते है, शैतान बसता है। इस वर्ग के पास रचनात्मक कुछ न रहने से खाली दिमाग़ के सब व्यवसाय इसे लग जाते है।

दलों में कटी-फटी समाज तरह-तरह के कुचक्रों का शिकार बनी रहती है। श्रम और पूंजी के विग्रह का प्रश्न सदा वहां उपस्थित रहता है। कारण, सिक्का श्रम से अलग होने पर पूंजी बन जाता है और पूंजी

फिर फ़ुरसत वाले चतुर लोगों का अस्त्र बन जाती है। असल में तो श्रम ही धन है। श्रम के फल के विनिमय और वितरण के सुभीते के लिए सिक्का बना है। पर सिक्का जमा करके रखा जा सकता है। वह बिगड़ता नही, गलता नही। जीवन के उपभोग में आने वाली चीजो का यह हाल नही है। एक परिमाण और समय से आगे उन्हे नही रखा जा सकता। वे पदार्थ छीजते और क्षय होते है। इसलिए सिक्के के संग्रह का लोभ उत्पन्न हुआ और वह अपने आप मे धन बनने लगा। आगे जाकर तो सिक्के और श्रम मे जैसे वैर ही होगया। अधिकार-प्राप्त मुट्ठी भर लोगो के हाथ में सिक्के की टकसाल हो गई और फैली हुई जनता के हाथ में कोरा श्रम रह गया। बीच मे कुछ छुटभइयों की जमात बन खडी हुई, जो श्रम को ले-लेकर पूजी के हाथो बेचने का काम करने लगी। ऐसे श्रम बिकना और चुसना आरम्भ होगया। जहां श्रम क्रय और विक्रय की चीज हुई, वहाँ ही मानो श्रम से बचना, यानी फुरसत (Liesure), जीवन का परम इष्ट होगयी। खरीदने वाला सस्ते-से-सस्ता श्रम को खरीदना चाहने लगा, और वह वर्ग, जिसके पास श्रम था औरउसके सिवाय कुछ न था, बेमन और बेबस भाव से उस श्रम को बाजार-भाव बेचने के लिए लाचार हुआ। साफ है कि श्रमिक वर्ग की निगाह श्रम पर नही, फुरसत पर है, जैसे कि और सबकी है।

यह हालत अच्छी कैसे कही जा सकती है। निश्चय ही बिन मेहनत आदमी नही चल सकता, और नही जी सकता। यह उसकी विवशता नही, कृतार्थता है। यही पुरुषार्थ का धर्म आता है। इसी में से मानव की सिद्धि है। मानव में मानवता का विकास पुरुषार्थ को किनारा देकर चलने की कोशिश से नही सिद्ध होगा। श्रमहीन होकर मनुष्य कर्महीन और नीतिहीन भी हो जायगा। लेकिन फिर भी हम देखते है कि उद्यम को नही, फुरसत को लक्ष्य समझा जाता है। जहाँ फुरसत अपने आप में लक्ष्य हो वहाँ संस्कृति नही, स्वार्थ ही पनप सकता है।

श्रमण संस्कृति मे इससे उल्टे श्रम ही सार है। वही असल धन है। पूजी श्रम के अतिरिक्त कुछ है ही नही। श्रम ही वहां असल मूल्य (Value) है। सिक्का उसका प्रतीक भर है। इसलिए श्रमण-दर्शन (सम्यक् दर्शन) मे सच्चा धनिक वह है, जिसके पास सहानुभूतिशील हृदय और स्वस्थ शरीर है। वही सच्चा धार्मिक है। कारण, स्नेह-भाव से वह स्वेच्छित श्रम करता है। ऐसा व्यक्ति अकिंचन है, कारण उसे जोड़ने की आकाक्षा और आवश्यकता नही है, वह सदा भरपूर है। वह अपरिग्रही है; क्योंकि वह अपने सम्बन्ध मे और भविष्य के सम्बन्ध मे भी निश्शंक है। उसमे चिंता और सशय की रिक्तता नही है कि उस गढ़े को भरने के लिए वह परिग्रह बटोरे।

विलायती एक शब्द है प्रॉलीतारियत (Prolitariat) उसका तात्पर्य कुछ ऐसा ही है। जिस वर्ग के पास उसका श्रम ही सब कुछ है। वह है प्रालीतारियत। लेकिन श्रमण को उससे बढकर मानना चाहिये। श्रमण मे स्नेह अतिरिक्त है। सर्वाहारा मे अपने बारे में अभाव का भाव हो सकता है। अपनी अवस्था पर उसमें आक्रोश और शिकायत हो सकती है। पूंजीपतियों के लिए द्वेष और घृणा उसमे हो सकती है। श्रमण में इन सब प्रतिक्रियात्मक भावों के लिए अवकाश नही। जिनकी स्नेह की पूंजी लुट गई है और शरीर और मन का स्वास्थ्य भी जिन्होंने खो दिया है, ऐसे पूजीपति वर्ग के लिए श्रमण के मन मे करुणा है। जिनके पास द्रव्य का सञ्चय और परिग्रह का सग्रह है, श्रमण जानता है कि उनके पास आत्म-श्रद्धा का दिवाला है। उनके मन के स्नेह को सशय और अविश्वास ने खा डाला है। इस तरह वे प्राणी वास्तव मे दीन और दयनीय हैं। वे रुग्ण है और इलाज के पात्र है। रोगी पर रोप नही करना होगा, सेवा से उनका इलाज होगा। उन्हे समाप्त यदि नहीं करना है, स्वस्थ करना है तो यह काम स्नेह से हीन होकर कैसे किया जा सकेगा। रोग के साथ जिसमें रोगी का नाश होता हो वह चिकित्सा-शास्त्र अधूरा है और मिथ्या है। नाश की इच्छा में ईर्षा का बीज है।

धनिक की ईर्षा के नीचे धन की चाह दुबकी माननी चाहिये। इसलिये श्रमण पूजीपति के द्रव्य को और साज-सामान की अनावश्यक अतिशयता को छीनना नही चाहता, बल्कि जड़ पदार्थ के उस भार से उस व्यक्ति को मुक्त देखना चाहता है। यहा भाषा का अन्तर न माना जाय, वृत्ति का ही अन्तर है। यानी श्रमण पूजीपति-वर्ग को ऊपर के (सरकार के, कानून के, शक्ति के) दबाव से नही, बल्कि भीतर की (अन्त.करण की, आत्म-जागरण की, स्नेह-प्रसार की) प्रेरणा से उसके रोग से उत्तीर्ण और स्वस्थ करना चाहेगा। धन छिनने से व्यक्ति मे से धन की लालसा नही छिनती। लोभ और सग्रह वृत्ति का बीज उसमें मौजूद रहता ही है और वक्त पाते ही फल उठ सकता है। हृदय-परिवर्तन न हो तब तक कानून का घेरा-पहरा रहने पर भी व्यक्ति की असामाजिक वृत्तियो का खतरा बना ही रहता है।

समाजवाद भी समाज की इस विषमता का इलाज सुझाता है। वह इलाज गणित का है। वह चौकस है और उसमें चूक निकालना मुश्किल है। क्या अच्छा था कि जीवन गणित के बस होसकता! पर वैसा होता नही। कभी हुआ नही, कभी हो पायेगा भी नही। कारण, मनुष्य पदार्थ नही है, वह व्यक्ति है। पदार्थ के रूप में उसके साथ व्यवहार करना यदि सम्भव भी हो तो भी नही है। वह व्यक्ति है। पदार्थ के रूप मे उसके साथ व्यवहार करना यदि सम्भव भी हो तो भी अनिष्ट है। हार्स-पावर (Horse-power) का १/१० आदमी नही है। आदमी को यदि हम वैसा बना देसकें तो हिसाब की सचमुच बहुत सुविधा होजाय। लेकिन शुभसयोग की बात है कि हिसाब को वैसा सुभीता देना मनुष्य के वश का नही है। उस अपने हृदय को बाद देकर वह जी ही नही सकता जिसकी गहराई में स्नेह का वास है। अतः वह सहयोग प्रेम और सेवा के बिना भी रह नही सकता। अपनी अन्त प्रकृति से वह इस बारे में विवश ह। लौट कर पशु बनना उसके लिए सम्भव नही। हिलमिल कर वह रहेगा, फूलेगा और फलेगा। बीच में कलह भी हो लेगी और लड़ा-

इयां भी हो बीतेंगी। उनको पार करता हुआ वह अपने हेलमेल को बढाता ही जायगा। उसका अन्तस्थ प्रेम शत्रुता से परास्त न होगा। वह हारेगा नही और बैर की व युद्ध की सब बाधाओं को पार करके ही छोडेगा। वह चला चलेगा, बढा चलेगा। यहाँ तक कि मनुष्य-जाति एक होगी और सब उसके लिए भाई-भाई होगे।

यह सपना सुलभ सबको है, पर श्रमण के लिए तो यह उसका व्रत भी है। उसको सामने रखकर वह अपना पग डिगायेगा नही। किसी तात्कालिक लाभ के लिए अपना व्रत वह भङ्ग नही करेगा। मानव-जाति के भविष्य को कीमत मे देकर कोई सुभीता अपने लिए वह नही जुटायेगा। राजनैतिक लाभ के लिए संस्कृति की हानि नही होने देगा। राष्ट्रीय स्वाधीनता जैसे शब्दो के लिए अहिंसा के ध्रुव को वह नही खोयेगा।

श्रम और उसके फल के विभाजन का सवाल आज का प्रमुख सवाल है। सवाल का हल अहिंसक यानी श्रमण संस्कृति यों सुझावेगी: 'श्रम तुम्हारा धर्म है, फल में आसक्ति क्यों ?'

आज की समस्या विकट बनी हुई ही इस कारण है कि श्रम कोई नही चाहता, फल सब चाहते हैं। मेहनत नही, सब आराम चाहते हैं। लेकिन श्रमण फल की जगह श्रम को ही चाहेगा। वह आराम से बचेगा और मेहनत को हाथ मे लेगा। वह सब कुछ जो भोग है उसके लिए त्याज्य होगा; क्योकि भोग मे श्रम-शक्ति का क्षय है। तप (स्वेच्छित श्रम (अपने हिस्से लेकर) भोग (फलोपभोग) श्रमण दूसरेके लिए छोड़ देगा। ऐसे ही आराम सब वह दूसरे के लिए मानेगा। उस आराम को अपने श्रम से पर निमित्त जुटा देना ही वह अपना दायित्व जिम्मे समझेगा।

गीता में यज्ञ को धर्म कहा है। बाइबिल की भाषा में उसी को 'क्रास' कहते हैं। उस धर्म को श्रम के स्वेच्छित स्वीकार के आधार पर ही आज चरितार्थ किया जा सकता है। अन्यथा तो हमारे जीवन की नीव में हरण और हिंसा और अधर्म का रहना अनिवार्य ही है, फिर चाहे

उस भवन का ऊपरी भाग कितना भी रम्य, आकर्षक और लुभावना क्यों न हो। ऊपर की मनोरमता से लुभा कर उस भवन में हम चैन से बैठे रहेंगे तो अपने को धोखा ही देंगे।

सस्कृति का अहिंसक आरम्भ और निर्माण ही सम्भव है। अहिंसा से जहाँ च्युति है, वहाँ विकृति है। अहिंसक जीवन, अर्थात् सश्रम जीवन, अर्थात् फल भोग की ओर से निराग्रही जीवन। श्रमण-धर्म इसी जीवनादर्श को सामने रखता है और उसी में से मनुष्यता को त्राण मिल सकता है।

: ६ :

बाज़ार दर्शन

एक बार की बात कहता हूं । मित्र बाजार गये तो थे कोई एक मामूली चीज़ लेने, पर लौटे तो एकदम बहुत-से बंडल पास थे ।

मैंने कहा—यह क्या ?

बोले—यह जो साथ थीं ।

उनका आशय था कि यह पत्नी की महिमा है । उस महिमा का मैं कायल हूं । आदि काल से इस विषय मे पति से पत्नी की ही प्रमुखता प्रमाणित है । और यह व्यक्तित्व का प्रश्न नही, स्त्रीत्व का प्रश्न है । स्त्री माया न जोड़े, तो क्या मैं जोड़ूं ? फिर भी सच सच है और वह यह कि इस बात में पत्नी की ओट ली जाती है । मूल मे एक और तत्त्व की महिमा सविशेष है । वह तत्व है मनीबेग, अर्थात् पैसे की गर्मी या एनर्जी ।

पैसा पावर है । पर उसके सबूत मे आसपास माल-टाल न जमा हो तो क्या वह ख़ाक पावर है ! पैसे को देखने के लिए बैंक-हिसाब देखिये, पर माल-असबाब मकान-कोठी तो अनदेखे भी दीखते हैं । पैसे की उस 'पर्चेज़िंग पावर' के प्रयोग में ही पावर का रस है ।

लेकिन नहीं । लोग संयमी भी होते हैं । वे फिजूल सामान को फिजूल समझते हैं । वे पैसा बहाते नहीं है और बुद्धिमान् होते है । बुद्धि और सयमपूर्वक वह पैसे को जोड़ते जाते है, जोड़ते जाते हैं । वह पैसे की पावर को इतना निश्चय समझते है कि उसके प्रयोग की परीक्षा उन्हें

दरकार नही है। बस खुद पैसे के जुड़ा होने पर उनका मन गर्व से भरा फूला रहता है।

मैंने कहा—यह कितना सामान ले आये !

मित्र ने सामने मनीबेग फैला दिया, कहा—यह देखिये। सब उड़ गया, अब जो रेल-टिकट के लिए भी बचा हो !

मैंने तब तय माना कि और पैसा होता तो और सामान आता। वह सामान ज़रूरत की तरफ देखकर नही आया, अपनी 'पर्चेज़िंग पावर' के अनुपात में आया है।

लेकिन ठहरिये। इस सिलसिले में एक और भी महत्त्व का तत्त्व है, जिसे नही भूलना चाहिये। उसका भी इस करतब मे बहुत कुछ हाथ है। वह महत्तत्त्व है, बाज़ार।

मैंने कहा—यह इतना कुछ नाहक ले आये !

मित्र बोले—कुछ न पूछो। बाजार है कि शैतान का जाल है ? ऐसा सजा-सजाकर माल रखते है कि बेहया ही हो जो न फँसे।

मैंने मन मे कहा, ठीक। बाज़ार आमन्त्रित करता है कि आओ मुझे लूटो और लूटो। सब भूल जाओ,मुझे देखो। मेरा रूप और किसके लिए है ? मैं तुम्हारे लिए हू। नही कुछ चाहते हो, तो भी देखने मे क्या हरज है। अजी आओ भी।

इस आमंत्रण में यह खूबी है कि आग्रह नहीं है। आग्रह तिरस्कार जगाता है। लेकिन ऊँचे बाज़ार का आमत्रण मूक होता है और उससे चाह जगती है। चाह मतलब अभाव। चौक बाज़ार मे खड़े होकर आदमी को लगने लगता है कि उसके अपने पास काफी नही है। और चाहिये, और चाहिये। मेरे यहा कितना परिमित है और यहा कितना अतुलित है। ओह !

कोई अपने को न जाने तो बाज़ार का यह चौक उसे कामना से विकल बना छोड़े। विकल क्यो, पागल। असंतोष और तृष्णा और ईर्षा से घायल कर मनष्य को सदा के लिए यह बेकार बना डाल सकता है।

एक और मित्र की बात है। वह दोपहर के पहले के गये-गये बाजार से कही शाम को वापिस आये। आये तो खाली हाथ !

मैंने पूछा—कहां रहे ?

बोले—बाजार देखते रहे।

मैंने कहा—बाजार का देखते क्या रहे ?

बोले—क्यों ? बाजार—

तब मैंने कहा—लाये तो कुछ नही !

बोले—हां। पर यह समझ न आता था कि न लूँ तो क्या ? सभी कुछ तो लेने को जी होता था। कुछ लेने का मतलब था शेष सब कुछ को छोड़ देना। पर मैं कुछ भी नही छोड़ना चाहता था। इससे मैं कुछ भी नही ले सका।

मैंने कहा—खूब !

पर मित्र की बात ठीक थी। अगर ठीक पता नही है कि क्या चाहते हो तो सब ओर की चाह तुम्हें घेर लेगी। और तब परिणाम त्रास ही होगा, गति नही होगी, न कर्म।

बाज़ार मे एक जादू है। वह जादू आख की राह काम करता है। वह रूप का जादू है। पर जैसे चुम्बक का जादू लोहे पर ही चलता है, वैसे ही इस जादू की भी मर्यादा है। जेब भरी हो, और मन खाली हो, ऐसी हालत मे जादू का असर खूब होता है। जेब खाली पर मन भरा न हो, तो भी जादू चल जायगा। मन खाली है तो बाजार की अनेकानेक चीजो का निमन्त्रण उस तक पहुंच जायगा। कही हुई उस वक्त जेब भरी तब तो फिर वह मन किसकी माननेवाला है ! मालूम होता है यह भी लू, वह भी लूं। सभी सामान जरूरी और आराम को बढ़ानेवाला मालूम होता है। पर यह सब जादू का असर है। जादू की सवारी उतरी कि पता चलता है कि फैन्सी चीजों की बहुतायत आराम में मदद नहीं देती, बल्कि खलल ही डालती है। थोड़ी देर को स्वाभिमान को जरूर सेंक मिल जाता है। पर इससे अभिमान की गिल्टी को और खुराक ही मिलती

है। जकड़ रेशमी डोरी की हो तो रेशम के स्पर्श के मुलायम होने के कारण क्या वह कम जकड़ होगी ?

पर उस जादू की जकड़ से बचने का एक सीधा-सा उपाय है। वह यह कि बाज़ार जाओ तो मन खाली न हो। मन खाली हो, तब बाज़ार न जाओ। कहते है लू मे जाना हो तो पानी पीकर जाना चाहिये। पानी भीतर हो, लू का लूपन व्यर्थ हो जाता है। मन लक्ष्य मे भरा हो तो बाजार भी फैला का फैला ही रह जायगा। तब वह घाव बिल्कुल नही दे सकेगा, बल्कि कुछ आनन्द ही देगा। तब बाज़ार तुम से कृतार्थ होगा, क्योकि तुम कुछ न कुछ सच्चा लाभ उसे दोगे। बाज़ार की असली कृतार्थता है आवश्यकता के समय काम आना।

यहा एक अन्तर चीन्ह लेना बहुत जरूरी है! मन खाली नही रहना चाहिए, इसका मतलब यह नही है कि वह मन बद रहना चाहिये। जो बद हो जायगा, वह शून्य हो जायगा। शून्य होने का अधिकार बस परमात्मा का है जो सनातन भाव से सम्पूर्ण है। शेष सब अपूर्ण है। इससे मन बन्द नही रह सकता। सब इच्छाओ का निरोध कर लोगे, यह झूठ है। और अगर 'इच्छानिरोधस्तपः' का ऐसा ही नकारात्मक अर्थ हो तो वह तप झूठ है। वैसे तप की राह रेगिस्तान को जाती होगी, मोक्ष की राह वह नही है। डाट देकर मन को बन्द कर रखना जड़ता है। लोभ का यह जीतना नही है कि जहाँ लोभ होता है, यानी मन मे, वहाँ नकार हो। यह तो लोभ का ही जीत है और आदमी का हार। आँख अपनी फोड़ डाली, तब लोभनीय के दर्शन से बचे तो क्या हुआ? ऐसे क्या लोभ मिट जायगा? और कौन कहता है कि आँख फूटने पर रूप दीखना बन्द हो जायगा? क्या आख बन्द करके ही हम सपने नही लेते है? और वे सपने क्या चैन भग नही करते है? इससे मन को बन्द कर डालने की कोशिश तो अच्छी नही। वह अकारथ है। यह तो हठवाला योग है। शायद हठ ही हठ है, योग नही है। इससे मन कृश भले हो जाय और पीला और अशक्त जैसे विद्वान् का ज्ञान। वह मुक्त ऐसे

नही होता । इससे वह व्यापक की जगह संकीर्ण और विराट् का जगह क्षुद्र होता है । इसलिए उसका रोम-रोम मूदकर बद तो मन को करना नही चाहिये । वह मन पूर्ण कब है ? हममे पूर्णता होती तो परमात्मा से अभिन्न हम महाशून्य ही न होते ? अपूर्ण हैं, इसी से हम हैं । सच्चा ज्ञान सदा इसी अपूर्णता के बोध को हम में गहरा करता है । सच्चा कर्म सदा इसअपूर्णता की स्वीकृति के साथ होता है । अतः उपाय कोई वही हो सकता है जो बलात् मन को रोकने को न कहे, जो मन की भी इसलिए सुने क्योंकि वह अप्रयोजनीय रूप में हमे नही प्राप्त हुआ है । हां, मन-मानेपन की छूट मन को न हो, क्योंकि वह अखिल का अंग है, खुद कुल नही है ।

पड़ौस में एक महानुभाव रहते है जिनको लोग भगत जी कहते हैं । चूरन बेचते है । यह काम करते जाने उन्हे कितने बरस हो गये है । लेकिन किसी एक भी दिन चूरन से उन्होंने छः आने पैसे से ज़्यादे नही कमाये । चूरन उनका आसपास सरनाम है । और खुद खूब लोकप्रिय हैं । कही व्यवसाय का गुर पकड़ लेते और उस पर चलते तो आज खुशहाल क्या मालामाल होते । क्या कुछ उनके पास न होता ! इधर दस वर्षों से मै देख रहा हूं, उनका चूरन हाथो-हाथ जाता है । पर वह न उसे थोक देते है, न व्यापारियों को बेचते है । पेशगी आर्डर कोई नही लेते । बंधे वक्त पर अपनी चूरन की पेटी लेकर घर से बाहर हुए नही कि देखते-देखते छः आने की कमाई उनकी हो जाती है । लोग उनका चूरन लेने को उत्सुक जो रहते हैं । चूरन से भी अधिक शायद वह भगतजी के प्रति अपनी सद्भावना का देय देने को उत्सुक रहते है । पर छः आने पूरे हुए नहीं कि भगतजी बाक़ी चूरन बालकों को मुफ्त बांट देते है । कभी ऐसा नहीं हुआ है कि कोई उन्हे पच्चीसवा पैसा भी दे सके ! कभी चूरन में लापरवाही नही हुई है, और कभी रोग होता भी मैंने उन्हें नहीं देखा है ।

और तो नही, लेकिन इतना मुझे निश्चय मालूम होता है कि इन चूरनवाले भगतजी पर बाजार का जादू नही चल सकता।

कही आप भूल न कर बैठियेगा। इन पक्तियो को लिखनेवाला मैं चूरन नही बेचता हू। जी नही, ऐसी हलकी बात भी न सोचियेगा। यह न समझियेगा कि लेख के किसी भी मान्य पाठक से उस चूरनवाले को श्रेष्ठ बताने की मैं हिम्मत कर सकता हूं। क्या जाने उस भोले आदमी को अक्षर-ज्ञान तक भी है या नही। और बडी बातें तो उसे मालूम क्या होगी। और हम आप न जाने कितनी बड़ी-बड़ी बाते जानते है। इससे यह तो हो सकता है कि वह चूरनवाला भगत हम लोगों के सामने एकदम नाचीज आदमी हो। लेकिन आप पाठको की विद्वान् श्रेणी का सदस्य होकर भी मैं यह स्वीकार करना चाहता हू कि उस अपदार्थ प्राणी को वह प्राप्त है जो हम मे से बहुत कम को शायद प्राप्त है। उसपर बाजार का जादू वार नही कर पाता। माल बिछा रहता है, और उसका मन अडिग रहता है। पैसा उसके आगे होकर भीख तक मागता है कि मुझे लो। लेकिन उसके मन में पैसे पर दया नही समाती। वह निर्मम व्यक्ति पैसे को अपने आहत गर्व में बिलखता ही छोड देता है। ऐसे आदमी के आगे क्या पैसे की व्यङ्ग-शक्ति कुछ भी चलती होगी? क्या वह शक्ति कुंठित रहकर सलज्ज ही न हो जाती होगी?

पैसे की व्यङ्ग-शक्ति की सुनिये। वह दारुण है। मै पैदल चल रहा हू कि पास ही धूल उड़ाती निकल गई मोटर। वह क्या निकली मेरे कलेजे को कोधती एक कठिन व्यङ्ग की लीक ही आर से पार होगई। जैसे किसीने आखो में उगली देकर दिखा दिया हो कि देखो, उसका नाम है मोटर, और तुम उससे वंचित हो! यह मुझे अपनी ऐसी विडम्बना मालूम होती है कि बस पूछिये नही। मैं सोचने को हो आता हूं कि हाय, ये ही मा-बाप रह गये थे जिनके यहा मैं जन्म लेने को था! क्यों न मैं मोटरवालो के यहां हुआ! उस व्यङ्ग में इतनी शक्ति है कि ज़रा में मुझे अपने सगों के प्रति कृतघ्न कर सकती है।

लेकिन क्या लोकवैभव की यह व्यङ्ग-शक्ति उस चूरनवाले अकिंचित्कर मनुष्य के आगे चूर-चूर होकर ही नही रह जाती ? चूर-चूर क्यों, कहो पानी-पानी।

तो वह क्या बल है जो इस तीखे व्यङ्ग के आगे अजेय ही नही रहता, बल्कि मानो उस व्यङ्ग की क्रूरता को ही पिघला देता है ?

उस बल को नाम जो दो; पर वह निश्चय उस तल की वस्तु नही है जहा पर ससारी वैभव फलता-फूलता है। वह कुछ अपर जाति का तत्त्व है। लोग स्पिरिचुअल कहते है; आत्मिक, धार्मिक, नैतिक कहते है। मुझे योग्यता नही कि मै उन शब्दो मे अतर देखूं और प्रतिपादन करू। मुझे शब्द से सरोकार नही। मै विद्वान् नही कि शब्दो पर अटकू। लेकिन इतना तो है कि जहा तृष्णा है, बटोर रखने की स्पृहा है, वहां उस बल का बीज नही है। बल्कि यदि उसी बल को सच्चा बल मानकर बात की जाय तो कहना होगा कि सचय की तृष्णा और वैभव की चाह मे व्यक्ति की निर्बलता ही प्रमाणित होती है। निर्बल ही धन की ओर झुकता है। वह अबलता है। वह मनुष्य पर धन की और चेतन पर जड़ की विजय है।

एक बार चूरन वाले भगतजी बाजार चौक में दीख गये। मुझे देखते ही उन्होंने जय जयराम किया। मैने भी जयराम कहा। उनकी आंखे बन्द नही थी और न उस समय वह बाजार को किसी भांति कोस रहे मालूम होते थे। राह में बहुत लोग, बहुत बालक मिले जो भगतजी द्वारा पहचाने जाने के इच्छुक थे। भगतजी ने सबको ही हंसकर पहचाना। सबका अभिवादन लिया और सबको अभिवादन दिया। इससे तनिक भी यह नही कहा जा सकेगा कि चौक बाजार में होकर उनकी आखें किसी से भी कम खुली थी। लेकिन भौचक्के हो रहने की लाचारी उन्हे नही थी। व्यवहार में पसोपेश उन्हे नही था और खोये-से खडे नही वह रह जाते थे। भांति-भाति के बढिया माल से चौक भरा पड़ा है। उस सबके प्रति अप्रीति इन भगत के मनमें नही है। जैसे उस समूचे माल के प्रति

भी उनके मन में आशीर्वाद हो सकता है। विद्रोह नहीं; प्रसन्नता ही भीतर है, क्योंकि कोई रिक्त भीतर नहीं है। देखता हूँ कि खुली आँख, तुष्ट और मग्न, वह चौक बाजार में से चलते चले जाते हैं। राह में बड़े-बड़े फैंसीस्टोर पड़ते हैं, पर पड़े रह जाते हैं। कहीं भगत नहीं रुकते। रुकते हैं तो एक छोटी पसारी की दुकान पर रुकते हैं। वहाँ दो-चार अपने काम की चीज ली, और चले आते हैं। बाज़ार से हठ-पूर्वक विमुखता उनमें नहीं है; लेकिन अगर उन्हें ज़ीरा और काला नमक चाहिये तो सारे चौक बाज़ार की सत्ता उनके लिए तभी तक है, तभी तक उपयोगी है, जब तक वहाँ ज़ीरा मिलता है। ज़रूरत भर जीरा वहाँ से ले लिया कि फिर सारा चौक उनके लिए आसानी से नहीं बराबर हो जाता है। वह जानते हैं कि जो उन्हें चाहिये वह है जीरा-नमक। बस इस निश्चित प्रतीति के बल पर शेष सब चाँदनी चौक का आमन्त्रण उन पर व्यर्थ होकर बिखर रहता है। चौक की चाँदनी दाएँ-बाएँ भूखी-का-भूखी फैली रह जाती है; क्योंकि भगत जी को ज़ीरा चाहिये वह तो कोनेवाली पसारीकी दुकान से मिल जाता है और वहाँ से सहज भाव में ले लिया गया है। इसके आगे आस-पास अगर चाँदनी बिछी रहती है तो बड़ी खुशी से बिछी रहे, भगतजी उस बेचारी का कल्याण ही चाहते हैं।

यहाँ मुझे ज्ञात होता है कि बाज़ार को सार्थकता भी वही मनुष्य देता है जो जानता है कि वह क्या चाहता है। और जो नहीं जानते कि वे क्या चाहते हैं, अपनी 'पर्चेज़िंग पावर' के गर्व में अपने पैसे से केवल एक विनाशक शक्ति—शैतानी-शक्ति, व्यंग की शक्ति ही बाज़ार को देते हैं। न तो वे बाजार से लाभ उठा सकते हैं, न उस बाज़ार को सच्चा लाभ दे सकते हैं। वे लोग बाज़ार का बाज़ारूपन बढ़ाते हैं। जिसका मतलब है कि कपट बढ़ाते हैं। कपट की बढ़ती का अर्थ परस्पर में सद्भाव की घटी। इस सद्भाव के ह्रास पर आदमी आपस में भाई-भाई और सुहृद और पड़ोसी फिर रह ही नहीं जाते हैं और आपस में कोरे गाहक और बेचक की तरह व्यवहार करते हैं। मानो दोनों एक-

दूसरे को ठगने की घात में हों। एक की हानि में दूसरे को अपना लाभ दीखता है और यह बाज़ार का, बल्कि इतिहास का, सत्य माना जाता है। ऐसे बाज़ार को बीच मे लेकर लोगों में आवश्यकताओं का आदान-प्रदान नही होता, बल्कि शोषण होने लगता है। तब कपट सफल होता है, निष्कपट शिकार होता है। ऐसा बाज़ार मानवता के लिए विडम्बना है। और जो ऐसे बाज़ार का पोषण करता है, जो उसका शास्त्र बना हुआ है, वह अर्थ-शास्त्र सरासर औंधा है। वह मायावी (Capitalistic) शास्त्र है। वह अर्थ-शास्त्र अनीति-शास्त्र है।

: ७ :

दान की बात

दान देने को कहते है। दिये विना चल नही सकता, जैसे लिये बिना नही चल सकता। कुछ या कोई अपने में पूरा और बन्द नही है, औरो के साथ किसी न किसी तरह के सम्बन्ध में वह जुड़ा हुआ है। इन सम्बन्धो के जरिये वह अपने लिए आपसीपन जुटाता और अपने को और अपनी आत्मीयता को फैलाता हैं। चेतना का स्वभाव ही यह हैं। शास्त्र-कार ने जीव का लक्षण परस्परोपग्रह कहा है। यानी देन-लेन के द्वारा आपस में एक-दूसरे के काम आना।

साँस हम में जीवन की पहचान है। उसका आना-जाना रुका कि वही मृत्यु। भीतर से वायु लेकर उसे फिर बाहर दे देने को श्वास-प्रश्वास कहते है। उस ली हुई हवा का अणु भी हम अपने भीतर रोक रख नही सकते। सबकी सब साँस वापस लौटा देनी होती है। इसी क्रिया से हमारा जीवन चलता है। श्वास लेकर लौटा न सकें, या देकर फिर न ले सकें तो जीवनी शक्ति समाप्त समझिये।

दान इस तरह जीव का अनिवार्य धर्म है। वह सहज धर्म है। वह उससे अलग नही हो सकता। जो जितना धार्मिक हो उसे उतना ही निःशेषदानी मानिए। कुछ रहता ही नही उसके पास जो वह न दे। अपना सर्वस्व वह दिए हुए है। शरीर रखता है; तो भी पर निमित्त। प्राण मानो उसमें उसके होकर नही, विसर्जित होकर रहते है। ऐसा व्यक्ति यथावश्यक लेकर यथासाध्य देता है। सच पूछो तो मात्र आवश्यक भी

जो लेता है वह ऋण रूप मे। उससे वह नम्र बनता है। उस पर उसका मन प्रार्थना से भीगा रहता है। तब उसकी सब प्रवृत्तियाँ मानो ऋण-मोचन के निमित्त से होती है। सतत आत्मदान ही मानो उसका जीवन बनता है।

सच तो यह कि इसके सिवा दूसरा सभव नही है। वृक्ष के लिए क्या यह शक्य है कि वह अपने पर फल न आने दे ? फूल के लिए सभव है कि वह सुरभि को अपने मे रोकले ? वैसे ही मनुष्य के लिए अपने को रोक रखना या न देना संभव नही है। दे न सकेगा उससे पहले जीना ही रुक चुका होगा। वृक्ष फल देता है, फूल सुवास देता है, बादल पानी देता है, सूरज धूप देता है—यहाँ देने शब्द का प्रयोग औपचारिक ही है। असल मे देने के गर्व को वहाँ कहाँ अवकाश ? सब स्वानुरूप वर्तन में नियुक्त है। उस रूप मे वे समष्टि की लीला मे सयुक्त है। सब अपनेको शेषके प्रति देते हुए जी रहे है। अपनी निजता को सबकी समस्तता मे मुक्त करने के प्रयास में ही यह विश्व की यात्रा अनन्त काल में से बढी चली जा रही है। अखण्ड सत्य ही तो है जो नानात्व मे प्रतिफलित है। जगत की उन नाना वस्तुओ और व्यक्तियों के मध्य परस्पर आत्मदान की यह अनिवार्यता ही सृष्टि की मगलमय व्यवस्था है। यही धर्म है। जगत व्यापार को और किसी तरह समझना मुश्किल है।

यह जो जगत मे निरन्तर सब ओर से निःशेप आत्म दान का समारोह सम्पन्न हो रहा है, जिसमें कोई अपने को अपने पास रोक रखने मे स्वतन्त्र नही है, जहाँ सब अपनी अपनी नियति मे जीकर और मर कर और फिर-फिर जीकर समष्टि के चिद्विकास में आत्म-योग दे रहे है—वहाँ दान जैसे शब्द की स्थिति ही कहाँ रह सकती है ? कौन किस को क्या दे ? क्या कुछ अपना है जो देने की बात की जा सके। समस्त से अलग होकर खण्ड है ही क्या ? अतः किस से कोई क्या लेगा और किसे क्या देगा ? सब भगवान का है। उसी में से है और उसी मे लीन होने के लिए है।

लेकिन फिर भी दान की बात करनी है। आज तो वह एक समस्या भी है। समस्या इसलिए कि हम मे अहकार है और आसक्तिया है। उनके बीच में आ पड़ने से चैतन्य का प्रवाह मुक्त नही रहता, जगह-जगह वह रुध और घुट जाता है। उससे क्लेश और व्याधि और युद्ध उपजते है। उससे आदमियो के बीच मे से ही एक राजा बन उठता है, तो दूसरा रक हो रहता है। उससे आदमी पशु तक बनता देखा जाता है कि दिन भर जुए मे जुते और शाम को दाने के लिए तरसे। उससे ऐसी अमीरी उपजती है कि जिसे समय बिताने को नए-नए चस्के ईजाद करने पड़ें और दूसरी तरफ ऐसी निपट गरीबी जिससे मौत अच्छी समझी जावे। ऐसी विषम समाज मे दान का प्रश्न गभीर प्रश्न है।

गम्भीर है क्योंकि सारभूत आत्मदान हमे भूल गया है, उसकी जगह हिसाबी अर्थ दान रह गया है। मन के देने को हम नही गिनते। वह हिसाब मे जो नही आता। सच पूछो तो बात वही महत्व की है। धर्म मन को देखता है, धन को नही। और धन बिना मन के भी दिया जाता और दिया जा सकता है। ऐसा धन बन्धन न उपजाए तो क्या करे। उससे समाज में श्रेणी भेद हो चलता है। उससे चैतन्य की हिंसा होती है। उससे मनो में राग-द्वेष उपजते हैं।

यह ध्यान मे रखना चाहिए कि प्रश्न मानवीय होकर ही विचारणीय है, केवल आर्थिक और आकिक वह नही है। अर्थ के विषम वितरण और स्वार्थलिप्त विनिमय के द्वारा मनुष्यता की ही जो हानि होती है वही चिन्ता की बात है। प्रश्न यही है कि कैसे सुख, शान्ति और सद्भाव फैले; आदमी और आदमी में मत्सर की जगह प्रीति और स्वार्थ की जगह सेवा पनपे। इस इष्ट की दृष्टि से ही अर्थ के दान और उसके बट-वारे का सवाल धर्मसगत होता है।

उत्पत्ति सब श्रम से होती है। मनुष्य मे कल्पना और उद्भावना है; जगत में रूप उपकरण साधन-सामग्री है। मनुष्य दोनों के योग से आवश्यकतानुसार वस्तुओ को उपजाता और बनाता है। मनुष्य की बुद्धि

और श्रम के इस फल के विनिमय के सुभीते के लिए सिक्का जनमा। सिक्के का स्वतन्त्र मूल्य न था। पर इधर गड़बड़ हो आई है। सिक्का श्रम पर निर्भर रहने के बजाय श्रम सिक्के के ताबे हो गया है। मानो श्रम नही सिक्का ही धन हो। चुनाचे अवस्था यह है कि दुनिया मे सब आदमियों के लायक खाना कपड़ा और दूसरी चीज पैदा होने और बनने पर भी दुनिया मे भूख से मरने वाले और कपड़ों बिना ठिठुरने वाले लोग कम नही है। सस्कृति और शिक्षा के अभाव की तो बात क्या कहिए। आज की संस्कारिता तो विलास है जो मुट्ठी भर लोगों को प्राप्त है। अर्थात् धन का वितरण श्रम के अनुसार नही है, वह उस मुद्रा नीति के वश में है जो फिर स्वय स्वार्थ-नीति के वश मे है। साम्राज्य और महा साम्राज्य बन रहे है और लोग तरह-तरह के अभावो से लाचार होकर उनकी फौजो और नौकरियों मे झुके जा रहे है। जो अपरिमित साधन सामग्री पसीने के बल मानव जाति उगाती है वह कुछ हाथों में जमा होती और वहा से वह फिर कृपा और दान के रूप म प्राप्त होता है। इस तरह दीन बनाने के बाद ही दान संभव होता है। दैन्य मे ही दान का समर्थन है। यदि दीनता अच्छी नीति नही है तो दान को भी बढावा नही देना होगा। दैन्य को यदि दूर करना है तो दान की संस्था को क्रमश. इतना शुद्ध करना होगा कि उसमें दयाभाव के लिए गुञ्जा-यश न रह जावे। यह उत्तरोत्तर हृदय का ऐसा सहज और अनिवार्य धर्म हो आये जैसे मेघ का जलदान। आज तो देने वाले कृपालु है और लेने वाला प्रार्थी है। दो व्यक्तियो के बीच यह दयालु और दयनीय, मालिक और दास का सम्बन्ध कृत्रिम सम्बन्ध है। उससे मनुष्यका गौरव नही बढता। उससे उलझन बढ़ती है और मैल बढ़ता है। इसलिए दान को उस धरातल पर पहुँचाना होगा जहाँ देने वाले को अपने को दाता मानने के दंभ से छुटकारा मिले और लेने वाला भी अपने को उस कारण निम्न अनुभव करने की आवश्यकता से बचे।

यह स्वाभाविक है कि धन अतिरेक से अभाव की ओर चले। यह

अनिवार्य है । इस प्रक्रिया को बहुत काल रोका नहीं जा सकता । अब इष्ट यह है कि यह क्रिया ऐसे सम्पन्न हो कि दोनों ओर हार्दिक समता और प्रीति की सभावना बढ़े ।

आज तो हमारे बीच सरकार नाम की संस्था सर्वशक्तिमान और सर्वव्यांपी है । वह नोट और सिक्के छापती है । हमारे जीवन का नियमन उसके हाथ में है । धन की कुंजी उसके पास है और वितरण के साधन उसके हाथ है । धनवान उसी की छाया में और सरक्षण मे बना जाता है । इसलिए मुख्यता से दीनता के सवाल का आरोप उस सरकार पर आता है । उसके निवारण का उपाय भी बहुत कुछ उसके हाथ है । सरकार सचमुच चाहे तो इस बारे में काफी कर सकती है । लेकिन प्रजासे अलग होकर सरकार का अस्तित्व भी क्या है ? तिस पर आज कल लोक-तन्त्र का राज समझा जाता है । इसलिए लोक जीवन की भी कम ताकत नही माननी चाहिए । इससे लोकमत के नेता और निर्माताओ पर यह दायित्व आता है कि दान की सस्था को ऐसा शुद्ध करे कि उससे मानव मे दैन्य की जगह चैतन्य बढे । अगर हम ऐसी समाज चाहते है जिसमे हर आदमी दूसरे से नफ़ा उठाने के बजाय उसको लाभ पहुँचाने की सोचे, और ऐसी अहिंसक-समाज रचनामें अपना भाग भी लेना चाहते है, तो दान की, क्रय-विक्रयकी कीमत अथवा दूसरी पद्धति से जो अर्थ इधर से उधर होता रहता है, उसे खोलकर समझना होगा। उस पर निगाह रखनी होगी। निगाह वह धर्म अर्थात् सम्यग्दर्शन की होगी । वह सम्यक्-दृष्टि हमे बताएगी कि इस धन के अमुक यातायात में कितनी तो अहिंसा की सिद्धि हा रही है अथवा कितना हिंसामय शोषण हो रहा है । दृष्टि-सम्यक् हो तो श्रम ही धन है । इस दृष्टि से धन श्रमिक का है । इसलिए जो श्रमिक का है उस धनका वितरण ऐसा होना चाहिए जिसमे मुद्रा की तुलना मे श्रम का और श्रमिक का महत्व बढे, श्रममें और श्रमिकमें स्वावलम्बिता आवे, और पर-निर्भरता दूर हो । श्रम म मजूरी के भावकी जगह स्वाधीन चेतना उत्पन्न हो और इस तरह शारीरिक उत्पादक श्रम में चैतन्य का भी

योग होनें लगे। इस प्रकार श्रम के साथ स्वाभिमान का सांमजस्य होगा, श्रमिक मनस्वी बनेगा और मानव समाज अन्तरङ्ग से स्वस्थ बनना आरम्भ होगा। अन्यथा जो धन काम करने वाले को स्वाधीन न रखकर अनुगत और परमुखापेक्षी बनाता है उससे सच्चा लाभ नही होता। धन का वह दान जिससे कार्यकर्ता मे तेजस्विता की हानि हो, इष्ट नही है। दूसरे शब्दों मे धन का वही दान शुभ है जो श्रद्धा पूर्वक किया जाता है। उससे कार्यकर्ता को अतःस्फूर्ति प्राप्त होती है। नही तो जिस धन से कार्यकर्ता की आत्मा दबती हो उससे भला क्या असली लाभ मिलने की आशा हो सकती है!

ऊपर की इस सब बात मे से हम निम्नाकित परिणाम प्राप्त कर सकते है:—

१, दान हार्दिक हो। इसमे यह अवकाश न रहेगा कि कोई अपने को दाता गिने।

२. हृदय की विवशता से दिया गया दान तात्कालिक ही हो सकता है। अर्थात् देने की भावना और देने की क्रिया में अन्तर तब नहीं हो सकता। दान की वसूली का जहाँ प्रश्न उठे वह दान ही नहीं है।

३ दिये दान को तत्काल अपने से अलग उस व्यक्ति अथवा संस्था को सौंप देना चाहिए कि जिसके प्रति देने की भावना है।

४. श्रद्धा का होकर दान शर्त के साथ नही होगा। भावना की स्पष्टता की जा सकती है।

५. कृपा के भाव से दिया गया दान निकृष्ट है। उसमे दोनों ओर आत्मा की हानि है।

६. दान की रकम का यदि ट्रस्ट बनाया जाय तो उचित यह है कि देने वाला अपना नाम ट्रस्टियों मे न रखे। मैनेजिङ्ग ट्रस्टी तो उसे बनना ही नही चाहिए।

७. दान वहाँ देना उचित है जहाँ उसका सीधा उपयोग है। अर्थात् जहाँ फिर वह रकम व्याज पर नहीं लगाई जाने वाली है।

८. शर्त के साथ दिया दान शकित मन का है। उसमें से शङ्का और फैलती है। ऐसा दान श्रेष्ठ नही है।

९. सार्वजनिक कोषो मे बडी रकमें दान देने वालो को अधिकारी पद पर आने से बचना चाहिए।

१० धन श्रम का प्रतीक है। इसलिए वह श्रमिकों का अर्थात् काम करने वालो का हो—यह भावना-रख कर दान देना चाहिए। आशय यह कि दी गई राशि के सञ्चालन और उपयोग का दायित्व एवम् अधिकार अधिकाधिक कार्यकर्ताओ के हाथ आता जावे।

११ देने वाले की भावना दानी के गण-स्थान से आगे सेवक के गुण स्थान तक बढने की होनी चाहिए। सेवा धर्म के लिए दान प्राप्त करने वाला सेवक और दान देने वाला दानी, इनमें सेवक का गुण स्थान ऊचा है। दानी को उस ओर, यानी अपरिग्रहशीलता की ओर, उठने का सदा यत्न रखना चाहिए।

१२ पैसे में शक्ति है। शक्ति मे मद है। मद विष ही ठहरा। उसमें स्वतन्त्रता की हानि है। सम्यग्दर्शन द्वारा यह पहचान कर धन के साथ वर्तन करना चाहिए। ऐसा सम्यक् दृष्टि धन के दान द्वारा यश, मान, प्रभुता या और तरह के लौकिक लाभ की चाहना नही रखेगा।

१३. धन की सच्ची सज्ञा है क्रय शक्ति। उससे चीजों के साथ आदमी भी खरीदे जा सकते है। कारण, आदमी को चीजे चाहिये। उन चीजो का अभाव या महगाई पैदा करके आदमियो को बिक्री के बाज़ार मे खीच लाया जा सकता और उनका मोल भाव किया जा सकता है। पैसे की यह शक्ति दानवी शक्ति है। सच्चा दानी इस दानवी शक्ति के उपभोग में दु.ख और उसके परिहार मे सुख मानेगा।

१४. दान वह जो पैसे में से दानवी शक्ति खीचे और दैवी शक्ति उसमें भरे। अर्थात् देने वाला दान मे प्रायश्चित्त की भावना रक्खे और माने कि जो धन उसके पास से जा रहा है वह तो उस नारायण का ही था और है, जो दरिद्र का रूप धर कर मानवता की परीक्षा ले

रहा है। यदि मैंने अब तक उस दरिद्र नारायण का ही रोकड़िया अपने को नहीं माना है तो यह बेईमानी और चोरी की है। इस भावना के द्वारा धन में दैवी शक्ति डाली जा सकती है।

१५. अहंभावना से दिया गया दान दीनता और विषमता पोसने और बढ़ाने वाला है। धर्म (अकिंचन) भावना से दिया गया दान प्रीति और सद्भाव बढाएगा।

१६. मुद्रा-धन का स्रोत सरकारी शक्ति है। धर्म का स्रोत व्यक्ति की भावना है। सरकार की ओर से कानून के बल से लाई गई आर्थिक और सामाजिक समता के नीचे भाव के वैषम्य और विकार के बीज रहेंगे ही। प्रबल से प्रबल कानून बल और शस्त्र बल उस विषमता को निर्मूल नही कर सकता। इस तरह राजनीतिक प्रयत्न एक विप्लव के बाद दूसरे और एक युद्धके बाद दूसरे युद्ध को लाये बिना नही रह सकता। स्थायी संस्कार के लिये मानव मन का धार्मिक परिष्कार जरूरी है। इसका आशय यह कि सम्पन्न वर्ग स्वेच्छा से नीचे झुके और दलित वर्ग का सेवक बने। धार्मिक दान इसी इष्ट की दृष्टि से है। दूसरी तरह का दान राजनीतिक-चक्र को पुष्ट करता है और बन्धन को मजबूत करता है।

१७. इससे जहाँ तक हो सरकार के तन्त्र को दान और उसकी व्यवस्था के बीच में न लेना ही अच्छा है। सहयोग समिति या ट्रस्टी-सघ बनाकर उसकी सुव्यवस्था की जा सकती है। इन समिति और सघो को आज दिन सरकार से रजिस्टर्ड कराने मे कोई आपत्ति नही है।

१८. ध्यान रखना होगा कि अन्त मे किसी भी शस्त्र वल या वाह्य वल के विना मानव जाति को अपनी अन्तरङ्ग शान्ति और व्यवस्था कायम रखने लायक होना है। यह ध्येय अन्तर्यामी भगवान के सिवा किसी दूसरे न्यायकर्ता को बीच में लेकर काम चलाने की आदत से पूरा न होगा। अर्थात् दान की रकमो या सार्वजनिक कोषों का मुकदमा सरकारी अदालत मे न होकर पञ्चायतों में आना चाहिये।

शायद इन परिणामों की अङ्क गणना जरूरत से ज्यादा होगई। बात तो मूल में एक ही है। हम में स्वरक्षा की वासना है, तो आत्मदान की भावना भी हो। मेरी श्रद्धा है कि व्यक्ति में स्वार्थ से भी गहरी परमार्थ का जड़ है। अन्यथा तो इसी जगत मे, जहाँ सब अपनी दो दिन की जिन्दगानी से और उसके रोग-भोग से चिपटे दीखते है, उन महापुरुषो के चरित का क्या अर्थ है कि जो स्वेच्छा से मृत्यु को स्वीकारते है और जीवन को तिल-तिल होमते है ? क्या वे हमारे ही अन्तर्भूत सत्य को हमारे ही आगे प्रगट नही कर जाते ? नही तो कोई कारण न था कि उन तपोधन हुतात्माओ को हम भूल न जाते। मैं मानता हूँ कि कही निछावर कर डालने के लिए ही हम इस जीवन का रक्षण और पोषण करते है। प्रीति-प्रेरित यह आत्मार्पण ही हमारे समूचे आत्म-सग्रह की सार्थकता है। उसी भाति निःकाक्षित दान में ही समस्त अर्जन की सार्थकता है। दान नही तो अर्जन क्या, चोरी ही न है? अर्जन तो एक मिथ्याचार है, दान ही यत्किंचित् उसकी सत्यता प्रदान करता है। आत्म-साधक के लिए इसी से अपरिग्रह धर्म बताया है। जो जितना आत्म को पाता चलता है उतना ही वह पदार्थ से उत्तीर्ण होता और उस पदार्थ को छोडता चलता है। पर मे से छूटे बिना स्व की उपलब्धि कहाँ ? इससे जो वाह्य मे दान है, वह तो भीतर में लाभ है। सच ही सम्पूर्ण आत्म-लाभ का उपाय निश्शेष आत्मदान के सिवा दूसरा और है ही क्या ? सब प्रकार के दानो में इस आत्म-दान की जिस अंश मे सिद्धि होती हो असल में वहाँ उतना ही सार मानना चाहिये।

: ८ :

दीन की बात

उस दिन एक तीर्थ पर देखा कि सड़क के दोनो ओर पांत के पांत भिखारी बैठे है। उनमें बालक है, बूढे है, स्त्रियां हैं। कुछ अपङ्ग है, ज्यादा रोगी है, सभी दीन है।

अधिक तीर्थो की यात्रा का लाभ मुझे नही मिला है। इससे ऐसा दृश्य सामने पाने का मेरे लिए यह पहला मौका था। उन भिखमंगों की तादाद थोड़ी नही थी। उस वक्त तो ऐसा मालूम हुआ जैसे उनकी गिनती का अन्त ही नही है। मील सवा-मील चलते चले जाइये राह के दोनो किनारे उन्ही उनसे भरे थे।

एक बार तो उनके सामने होकर मन बैठने लगा। आगे बढा नही जाता था। जी हुआ कि चलो लौट चलो। उन आदमियो की पुकार ऐसी थी कि बस ! आदमी ने कुछ आदमियत होनी चाहिए, कुछ इज्जत का भी खयाल चाहिए। पर इज्जत का खयाल या आदमियत का सवाल जैसे उन्हे छू भी न गया हो। मानो कोई काम नही जो आपसे पैसा पाने के लिए वे नही कर सके। मनुष्यता का यह रूप सहना भला किसके लिए आसान है। मै जानता हूँ कि यह खुद उनके लिए भी आसान नही है।

ओरो की क्या कहूं ? मैंने तो तब एक काम किया। कठोरता से अपनी आखो को नीचा कर लिया। इधर-उधर देखू ही क्यों, जब देखना दूभर होता है। पर पलक के ओझल करने से क्या सचाई को ओट मे डाला

जा सकता है ? इससे सच पूछो तो, इस तरह मैंने अपनी मान की ही रक्षा की।

उस सङ्कट के समय सौभाग्य से मुझे अपने से एक सात्वना प्राप्त हो सकी। वह यह कि उस वक्त मैं भी पैसे का स्वामी नही था। (शायद इसी कारण हो कि) तब आख नीची करने पर एक बात अत्यन्त सत्य के रूप मे मेरे भीतर स्पष्ट हो उठी। वह बात यह कि खुद पैसे वाला होना भिखारी के भिखारीपन में सहायी होना है। धनवान होना निर्धन का व्यङ्ग करना है। और कि यदि सचमुच हम दीन के प्रति प्रेम से खिचकर सेवा-सहायता करना चाहते है तो उसकी दिशा यही हो सकती है कि हम और वह बराबरी पर आकर मिलें। पर क्योकि सब दीन धनिक नहीं बन सकते, यानी मै सबको धनिक नही बना सकता, इससे बराबरी का एक ही मार्ग रह जाता है। वह मार्ग यह कि मै स्वय स्वेच्छा-पूर्वक दीन बन चलूं।

जान पडता है कि इस अनुभूति के सहारे मन को टिकाकर उस सड़क चले चलना उस समय मेरे बस का हो सका, नही तो······

लेकिन हजारो स्त्री-पुरुष भी रोज इस सडक पर आते-जाते है। तभी तो जाने कहां-कहां के भिखारी यहां आ जमा हुए है। उन शत-सहस्र नर-नारियो के मन की हालत मै नही जानता। अधिकांश उनमे तीर्थ-यात्री पुण्यार्थी होते है। दूर देश से कष्ट उठाकर भक्ति-भाव से भरे वे आते और कुछ अतिरिक्त कष्ट उठाकर तीर्थ-दर्शन करके फिर अपने दूर देश चले जाते है। इन हाथ फैलाए बैठे कङ्गालो को राह में वे दान भी करते जाते है। अन्न देते है, वस्त्र देते है, पाई-धेला-पैसा देते है। वे कोमल चित्त के लोग दया से द्रवित होकर दान-पुण्य द्वारा अपना और दीनो का, दोनो का भला करते है।

मुझे इस दया के विपक्ष में कुछ कहना नही है। जो दया कर सकता है उसे दया करनी चाहिए। लेकिन यह बात मेरे मन मे जरूर उठती है कि अपने को दयावान की जगह पर पाना और इस तरह दूसरे को दय-

नीय स्थिति में डालना क्या उचित है ? क्या इससे हालत कुछ सुधरती है ? क्या यो विषमता बढती ही नही है ? क्या इससे बखेड़ा थोड़ा भी निपटता है ? क्या इससे भिखारी से उसका भिखार-पन तनिक भी उतर कर दूर होता है ? क्या ऐसी दया अपने दायित्व से बचने का ही एक जतन नही है ? यह दया आत्म-विसर्जन के विरोध मे आत्म-संरक्षण का ही एक ढंग नहीं है ? क्या आत्म-ग्लानि को इस बहाने हम टाल ही नही जाते है ? एक मुट्ठी नाज या उतरा कपड़ा या ताम्बे का पैसा देकर क्या अपने मान को ही दुरुस्त रखने की कोशिश हम नही करते है ?

दया गलत नही है। लेकिन विचारवान के लिए क्या वह दया काफी हो सकती है ?

पर यहाँ हम सावधान रहे। दया में कुछ देना ही होता है । चाहे स्थूल हो, या सूक्ष्म, दया में त्याग अनिवार्य है। त्याग से बचने के लिए दया से बचना पाप है। तर्क-वितर्क करके जो त्याग-रूप कर्त्तव्य से ही छुट्टी पा लेता है, मुझे इसमे सन्देह है कि वह कोई ठीक काम करता है। सन्देह है कि ऐसा तर्क-वितर्क घोरतर आत्म-प्रवंचन नही है ? मै स्वीकार करूँ कि जो त्याग से बचा है, वह अवश्य प्रवचक है।

तर्क के सहारे त्याग से बचा जा सकता है, बचा जाता है । वैसा तर्क विनाशकारी है। किन्तु देख यह भी पडता है कि दया-भावना भी उस त्याग धर्म से छुटकारा पाने के काम में आती है । पैसा या कपड़ा या नाज देकर जैसे हम खुद अपने को देने के धर्म से बच जाते है; ऐसा त्याग गहरे स्वार्थ-त्याग से हमें बचा देता है और एक तात्कालिक चैन हमे पहुँचा देता है !

सवाल होगा कि तो क्या फिर दीन की खातिर स्वयं दीन बनना होगा ? इस तरह क्या दीन की दीनता दूर हो जायगी ?

कहा जायगा कि हम खुद धनिक होकर निर्धन में जो एक डाह और द्वेष और स्पर्द्धा की भावना जगाते है, उससे यदि निर्धन व्यक्ति चाहे तो उसका भला ही हो सकता है । इस प्रकार उसमें अपनी हालत से

असन्तोष जागता है, बेचैनी पैदा होती है। आशा का जा सकती है कि ऐसे ही चैतन्य उसमे चेत जायगा और कर्तृत्व और कर्मण्यता भी प्रकट हो जायगी। जो नीचे है, गिरा हुआ है, उसके लिए खुद गिर जाना गलत होगा। सही यही होगा कि हम बराबर ऊँचे ही चढ़ते जांय, जिससे कि निम्न की निम्नता उसे और भी चुभने लगे और वह भी उठने का जतन करने लगे। बराबरी हो तो ऊँचाई पर होनी चाहिए न? मैं धनाढ्य हूँ और बराबरी हुई रखी है अगर निर्धन भी मेरे जैसा बन जाय। पर अगर मैं उसे अभी बराबरी का दर्जा दूं तो क्या यह उसकी निर्धनता को उचित ही स्वीकार कर लेना न होगा? इस दृष्टि से धनिक होकर मै अपने को झुका नही सकता और खुद निर्धन के हक में मुझे उसके बराबरी के दावे को नही सुनना चाहिए।

इस प्रकार की दलील से धनाढ्य के और अधिक धन [illegible] करने की धुन का समर्थन किया जा सकता है और निर्धनों को हिकारत की नजर से देखा जा सकता है। तिस पर समझा जा सकता है कि वह हिकारत की नजर निर्धन को उन्नत होने की प्रेरणा देगी।

लेकिन मेरे चित्त को ऊपर का तर्क नहीं छूता। मुझे वह [illegible] मालूम होता है। उसकी जड़ में मुझे [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] मालूम होती है।

पहला बताता है कि मैं किसीको बड़ा न मानूँ। दूसरा सुझाताहै कि मैं किसी को छोटा न समझूँ।

मेरा विश्वास है कि पहले ढग से बराबरी नही बढ़ेगी, बढा-बढी बढ़ेगी और विषमता बढेगी। और सच्ची समता यदि समाज में थोड़ी-बहुत कभी कायम भी होगी तो वह दूसरी ही पद्धित को अगीकार करने से होगी, अन्यथा नही।

मै इस चाह को गलत मानता हूँ कि मै धनवान बनूँ। मुझे कोई हक़ ऐसी इच्छा रखने का नही है। ऐसी तृष्णा असामाजिक है, यानी सामाजिक अपराध है। इसमे जरूरी तौर पर यह शामिल है कि मै दूसरे को निर्धन देखना चाहता हूँ। धनवान होने मे स्वाद तभी तक है जब तक कि पड़ौस मे कोई निर्धन भी है। अगर मुझे उस स्वाद का लोभ है, वह रस मुझे अच्छा लगता है, तो यह बात झूठ है कि मुझे दीन की दीनता बुरी लगती है। दीन के दैन्य में मुझे जब तक अन्दरूनी तृप्ति है, तभी तक स्वय धनवान होने की तृष्णा मुझमे हो सकती है। मै मानता हूँ कि वैसी तृष्णा मे अहकार का सेवन है। और अहकार को चैन तभी मिलता है जब दूसरा अपने से नीचा मालूम होता है।

व्यवहार मे देखे कि धनवान का क्या अर्थ होता है। चारों ओर झोपड़ियाँ हों और उनके बीच मेरा मकान पक्की ईंटो का बना हो तो मै अपने को धनवान लगूँगा। मुझे उस मकान का मालिक होने पर गर्व होगा। वही मकान यदि शहर मे है, जिसके आस-पास आलीशान हवेलियाँ है, तो वही मुझे अपनी दीनता का प्रमाण मालूम होगा और मै उस पर लज्जित दीखूँगा। इससे धनवान होने की इच्छा में ही गर्भित है कि कोई दीन भा हो। हम धनवान होना चाहते है, यानी हम दीन को दीनतर बना देना चाहते है।

इसलिए जो नीति तुम्हे और हमे सांसारिक सम्पन्नता के रास्ते पर आगे-से-आगे बढने की ओर उकसाती है, वह नीति गरीबों के हक की नही है। वह उनका भला नही चाहती। सच पूछा जाय तो उस नीति

के पेट मे नीयत स्वार्थ की है। उस नीयत का मुँह बाहर न दीखता हो, पेट मे छिपी उसकी जड़ है जरूर।

उसके विरोध में जो नीति सब के भले का दावा करना चाहती है; खास तौर से ग़रीबो का, यानी हर देश और हर काल के, बहुसख्यक वर्ग का, भला करना चाहती है वह दुनिया की तृष्णा और संचय के लोभ पर खड़ी नही हो सकती। सार्वजनिक हितकर्म की नीति धन नही, मन चाहेगी। वह अमीर बनने को बड़ा बनना नही मान सकती। वह पैसे पर आश्रित सम्बन्धों को बढ़ावा नही दे सकती।

अगर समाज एक है तो दीन की दीनता के दोष से हम अपने को अछूता नही मान सकते। अगर दीनता के कारण उस आदमी मे मनुष्यता तक नही रह गई है,वह जानवर और अपराधी बनता जा रहा है,तो याद रखना चाहिए कि हम अपनी अमीरी निष्क्रियता से उसमें मदद दे रहे है। अपनी आराम-देह स्थिति से चिपट कर हम उसकी तकलीफ को कायम बना रहे हैं। उसका मनुष्यता पर से विश्वास उठता जा रहा है तो क्या इसलिए नही कि हम लोग उसका विश्वास करने को तैयार नही होते ? समाज-मान्य हम लोग उससे बन्धु-भाव से व्यवहार करने को तैयार नहीं है तो वह क्यो न समाजद्रोही हो। क्या हम उसे इस प्रकार लाचार ही नही करते कि वह मानवता का द्वेषी बन आये ?

आशय यह नहीं कि व्यक्ति के दु.ख का दोष मे व्यक्ति पर से टाल कर एकदम समाज पर डाल देना चाहता हू। व्यक्ति अपने दुख के सम्बन्ध में निर्दोष तो हो ही नहीं सकता। कर्म-फल का सिद्धान्त अटल है और वह सर्वथा वैज्ञानिक है। पर वह बात व्यक्ति पर समाप्त होकर क्या चुक जाती है ? व्यक्ति का दु.ख समाज के लिए घुन है। इसलिए दुखी व्यक्ति के दु ख का सवाल हमारा, तुम्हारा यानी उन लोगों का सवाल भी है, बल्कि उनका प्रमुखता से है, जो अपेक्षाकृत समाज में सुख-चैन से है।

दीन की बात करते समय हमको याद रखना चाहिए कि वह द्रव्य का अभाव नहीं है जो उसको और हमको कष्ट देता है। इस हेतु से जो उसमे धीमे-धीमे मनुष्यता का ही अभाव होने लगता है, वही सोच और ग्लानि और परिताप का कारण बनता है। सब काल और सब देशों में ऐसे पुरुष हो गये हैं जिन्होंने पास धन नही लिया पर जो उसी कारण महामान्य समझे गये। अतः गरीबों की गरीबी का सवाल एकदम आर्थिक है यह नही मानना चाहिए। सिर्फ धन का न होना दरिद्र का लक्षण नहीं है। उसका सहारा लेकर जो बेबसी और ओछाई की भावना आदमी मे समा जाती है, असली रोग तो वह है। और इस लिहाज से दारिद्रय का प्रश्न नैतिक प्रश्न है। बेशक पहली आवश्यकता है कि उसको खाने को अनाज मिले, पहनने को कपड़ा। लेकिन सीधा दान मे नाज-कपड़ा देकर क्या उसमे मानवोचित आत्म-सन्मान पैदा होने की सम्भावना को हम बढाते है ? वह आत्म-सम्मान अर्थदान से उसमे पैदा न होगा। वह तो आत्मदान से ही उसमें जागेगा। हर हालत मे जब हम उसकी इन्सान की हैसियत मानने को तैयार होंगे, उसके साथ उसी इज्जत से पेश आवेंगे, तभी वह अपने को इन्सान समझेगा, और बनना शुरू करेगा। उससे पहले भीख में और दान में बहुतसा माल पाकर भी वह समाज के लिए खतरा और दूषण ही बना रहेगा।

तो बुनियाद मे समस्या यदि नैतिक है तो उसका सुलझाव नीति-धन से होगा, स्थूल-धन से नही हो सकेगा। नीति का धन क्या ? वह धन है प्रीति की वेदना। वैसी शुद्ध नैतिक भावना, यानी वेदना, को साथ लेकर ही उस समस्या के समाधान की ओर बढा जा सकेगा। नही तो जो तबियत धन की कमती-बढ़ती से आदमी-आदमी में भेद करती है, जो निर्धन को नीच और धनवान को उसी कारण ऊँच गिनने की आदी है, उस तबियत के साथ दीन दुखी के सवाल को छूना भी उचित नही है। उससे उलझन और बढकर रह जायगी। उससे विषमता कुछ उभरेगी ही। समस्या को खोलने के अधिकार के लिए वह मनोवृत्ति चाहिए जो

धन से इन्सान को नहीं तोलती और जो अपने से निम्न किसी को मानने को तैयार नही है। समस्या हल होगी तो उस मन के धनी द्वारा जो दरिद्र में दरिद्रनारायण की कल्पना कर सकता है, जो दरिद्र की सेवा प्रायश्चित्त और आत्मशुद्धि के रूप में करने को विवश है। जो वैसी सेवा को उपकार या अहसान गिनता है, वह कृपया अपने उपकार को लेकर दूर ही रहे। उसके प्रति दीन की भावनायें यदि भीतर से देखी जांय तो जान पडेगा कि वे कृतज्ञता या आभार की नही है, पर बहुत-कुछ गुस्से की है। मानो लिहाज से रुका न रह जाय तो वह कह ही बैठे कि 'तुम हो कौन उपकार का दम भरने वाले! सब तरह का कुकर्म करके पहले तो घर भर बैठे हो, अब उनमें से दो पैसे दिखाकर धर्म करने चले हो! यह पैसा तुम्हारा हुआ कैसे? दूसरो को सुखा और सताकर तुमने यह कमाया है। इसी पर अहसान तुम्हारा मानें और हम जो मेहनत करते है? जाओ, बस अपनी सूरत दूर ले जाओ। नही तो ...'

मुझे बहुत सन्देह है कि अगर हार्दिक स्नेह से नही बल्कि थोडी-भी कृपा-भावना के साथ हम गरीब के दुःख को छूने चले है, फिर कितना ही प्रोग्राम (कार्यक्रम) हमारा उस दुःख को दूर करने का हो, हम उसमें वही उद्धत आवेश की मनोदशा उत्पन्न करने के निमित्त होंगे। इस तरह की कृपा-भावना अनैतिक है। सच्ची नाति की ताकीद तो यह है कि हम अपने को दीन का भी बन्दा और सेवक मानें। मानें ही नही बल्कि सच्चे मन से वैसा बनने का उद्योग करें। दरिद्र की सेवा का अवसर पाकर हम अपने ऊपर उसका उपकार मानने को तैयार हो। दारिद्र्य मिटाना हमे अपने ही मन का दोष मिटाने जैसा मालूम हो। अगर यह मनोवृत्ति नही है तो मै कहता हू कि दीन की दशा में कोई सुधार नही किया जा सकता है। दीनावासों,अनाथालयो और अन्न-क्षेत्रो से हानि बची नही है बढी ही है। सवाल को आर्थिक और सिर्फ आर्थिक समझे जाने को ही सुधारना होगा। रूप उसका आर्थिक हो,पर मूल मे अर्थ पहुंच गया है

तो अनर्थ है। मूल में तो हार्दिक वेदना ही हो सकता है। वेदना यानी विसर्जन और त्याग। और जहां मूल में वह नहीं है, वहां तमाम आर्थिक योजनाए विफल हैं। विफल ही नही, बल्कि वे दुष्फल आगे ला सकती हैं। यह बात आजकल इसलिए भी कहना आवश्यक होगया है कि विज्ञान के नाम पर अर्थ को मूलाधार माना जाने लगा है और विचार मात्र को आर्थिक चाहा जाता है। लोग है जो आदमी की कुंजी अर्थ में देखते है। वे विश्वास दिलाना चाहते है कि जो कुछ होता है, अर्थ-प्रयोजन को सामने लेकर होता है। कि स्वार्थ ही मनुष्य की प्रेरणा है। लेकिन वे नही जानते, वे सही नहीं है। अगर यही सही होता तो सब सवाल समाप्त थे। तब किसी को किसी से क्यों गरज होती। लेकिन ऐसा न हो सकेगा। एक का सबसे नाता है और अगर दूसरे का दुःख उसे नही छूता तो वह आदमी नही है, जड़ है। मै जड़ नहीं हूं, अगर इसका प्रमाण है तो यही कि मैं दूसरे के दुख मे दुखी हो सकता हू, मुझमे संवेदन है। और अगर यह सच है तो मनुष्य वह सच्चा और वह ऊंचा और वह श्रेष्ठ है जो अधिक-से-अधिक दुख को अपना सकता है यानी उसके लिए अपना अधिक-से-अधिक उत्सर्ग कर सकता है, जो निरन्तर सबके लिए होम होता रहता है।

मुझे दीखता है कि उसी ओर चलना सच्चा उपाय है। नही तो दुःख के सवाल की कोई और पकड़ नही है।

: ९ :

सीमित स्वधर्म और असीम आदर्श

आज मै कुछ बे-स्वाद बात आपको कहना चाहता हूँ । स्वाद भोग में होता है । धर्म में त्याग होता है । धर्म की बात गर्म नही होनी चाहिए। गर्मागर्मी अच्छी लगा करती है। कहा है "धर्मस्य तत्व निहित गुहायाम्"। वह गुफा है हृदय। हृदय की रीति उलटी है । ठंडी-धीमी बात वहाँ पहुँच जाती है । गर्म-तेज बात रास्ते मे इन्द्रिय-विषयो को चहका कर उस चक्कर में रह जाती है । उत्तेजना उससे होती है कि फिर थकान-सी भी हो आती है। भोग के स्वाद मे यही तो है-आगे रस, पीछे विष। पर धर्म यदि सामने से रूखा है तो फल उसका ही मीठा होता है। आज पर्यूषण के दिन ज़ोर की वाणी और प्रखर् तर्क से आपकी चित्त-वृति को मै मथ डालना नही चाहता। वह मेरा वश भी नही है। देखते ही है आप कि मै कैसा निर्बल हूँ । कोई आग-सी लहक आप में जाग उठे, ऐसा काम मै नही करूँगा। आग चाहिए, पर ठंडी आग चाहिए। आध्यात्मिक सुलग वही है। भीतर सच्ची जिज्ञासा जगी कि फिर बुझती नही। पर उसमें दूसरा कोई नही जलता है; हमारे विकार ही जलते है। अभी उस दिन दाद की बीमारी के बारे में पढ़ रहा था । दाद को जितना खुजाओ उतना मजा आता है। असल में उसके छोटे-छोटे कीड़े बदन पर फैले होते हैं। खूब खुजा कर अपना लहू हम उन्हें पिलाते हैं। उस मज़े का मतलब उन कीड़ों का मज़ा है । अपना खून उन्हें पिलाते और रस मानते है। आपस के विवाद और वितडा से जो मज़ा अक्सर

आया करता है, वह भी इसी किस्म का है। उसमे हम अपना खून पीते और मज़ा मानते है।

आज के परचे मे आपने देखा कि मेरा विषय है 'सीमित स्वधर्म और असीम आदर्श'। विषय वह क्लिष्ट मालूम होता है। उसका दोषी मै हूँ। मैने ही वह विषय दिया। पर सुनने मे वह क्लिष्ट हो, आप देखेगे कि हमारे और आपके वह नित्य-प्रति के काम का है। दूर की पहुँच मेरी नही है। मेरा दुर्भाग्य कि मै विद्वान नही हूँ। पर आज तो मै उसे सद्‌भाग्य मानता हूँ। गीता की अहिंसा मे और महावीर की अहिंसा मे और बुद्ध की अहिंसा में और गाँधी की अहिंसा में क्या तार-तम्य और क्या उनमे सूक्ष्म भेद है? यह विषय मुझ जैसे अबोध की पात्रता से बाहर है। यह मेरा सौभाग्य नही तो क्या है? नहीं तो इस सूक्ष्म-चर्चा मे गिर कर मुझे क्या कभी उसका किनारा मिलता? इससे मै कृतज्ञ हूँ कि जितनी बुद्धि मुझे मिली है उससे आगे बढने की तबियत होने का सामान मुझे नही मिला है। अपने से दूर जाकर मै कुछ नही पकड़ पाता। जिसकी प्रतिध्वनि मेरे भीतर नहीं है, ऐसा कुछ तत्व हो तो उसकी उधेड़ बुन मे मै किस आधार पर पड़ जाऊँ?

विषय के दो हिस्से है। पहला है, सीमित स्वधर्म अर्थात् हमारा स्वधर्म सीमित है। उस सीमा को हमें समझना और स्वीकार करना चाहिए और उससे झगड़ना नही चाहिए।

अपने सीमित होने की बात पर ज्यादा समय क्या लिया जाय? हममें से हर एक साढे-तीन हाथ का है। उससे आगे उसकी हस्ती नही। हर काम और हर बात में अपने सीमित होने का हमे पता चलता रहता है। देह साढे-तीन हाथ और उम्र समझ लीजिये साठ-सौ साल। इस तरह क्षेत्र और काल की मर्यादा के भीतर हमारा अस्तित्व है। इन मर्यादाओ के भीतर ही हम पर कुछ कर्त्तव्य लागू होते हैं। वे कर्त्तव्य ही हमारा स्वधर्म है।

यह बात साफ है। पर धुँधली भी हो जाती है। कारण कि हमारे

भीतर मन है और बुद्धि है और इच्छाएँ है । मन भाग कर दुनिया में दौड़ता है, बुद्धि आसमान को नापती है और इच्छाएँ जाने क्या-क्या अपनी मुट्ठी मे कर लेना चाहती है । अपने ही इन तत्वो के कारण हम अपनी ससीमता को चुपचाप नही झेल पाते । हमारी जो हदें है उन पर पहुँच कर हमारे मन-बुद्धि सदा ही टकराया करते है और उन सीमाओं की अवज्ञा करके स्वच्छन्द विचरना चाहते है ।

जैसे सपने की ही बात लीजिए । आप रोग में खटिया से लगे पड़े है, पर सपने ऐसे उडते है, ऐसे उडते है, जैसे आपके लिए कोई रोक ही नही । बादल पर सवारी करते है,सारी दुनियाँ को अपने मन के अनुरूप शकल दे सकते है । दिन के काम मे आप बँधे हुए है । पर रात के सपने में एकदम खुल जाते है ।

मै उन आदमियो मे नही हूँ जो सपने को सपना कह कर उड़ा देते है । मै तो वहम को भी मानता हूँ । इसी तरह सपना दिन की धूप में सपना हो, पर रात में आँख मिचने पर वही सच होता है । हमारे सपने पर हमारी ही सीमा नही रहती है । और मै यह भी आपको कहना चाहता हूँ कि सपना न होता तो हम जग भी न सकते । अनिद्रा नाम का जो रोग है, वह नही तो रोग ही फिर क्यो होता ? दो रोज न साइये, फिर देखिये क्या हालत होती है । सपने के कारण हममे सन्तुलन आता और जीना सम्भव होता है ।

पर एक वार की बात है कि रात को मेरी बहन एकाएक चीख पड़ी । एसी कातर चीख थी कि क्या बताऊँ । पर देखा तो वह सो रही थी । थोडी देर मे फिर चीख हुई । अबके वह उठ पड़ी थी । माथे पर पसीना था, थरथर काँप रही थी । मैने पूछा, "क्या है ?" बोली, "कुछ नही ।" यह "कुछ नही" उसने झूठ नही कहा था, पर उसे सचमुच मालूम नहीं था कि क्या है । और वह यही जानती थी कि जो है, वह 'कुछ नही' है । इसलिए यह जो 'कुछ नही' नाम की वस्तु है, जिसका दूसरा नाम है स्वप्न, वह एक दम- असत्य नही है । उसमें से चीख निकल सकी,

उससे बदन पर पसीना और थरथराहट आ सकी।

यह बात मैंने आपको यह बतलाने के लिए कही कि हमारी सीमा और हमारे ही अन्दर के असीम में जब बेहद झगड़ा पैदा हो जाता है, यानी तीव्र संघर्ष मच जाता है, तब उसका अनिष्ट परिणाम होता है। हम सीमित है, हमारा आदर्श असीम है। उन दोनों सीम और असीम के तनाव (Tension) में से जीवन का प्रादुर्भाव हुआ है। वही हम सचेतन प्राणियो की परिभाषा है। ससीम से असीम की ओर गति उस जीवन का विकास है। और उनमें विग्रह हमारा क्लेश और हमारी तकलीफ है।

यहाँ पर एक बात बहुत अच्छी तरह समझ लेने की है। वह यह कि अपनी सीमाओं से नाराज होकर उन्हें हठात् इन्कार करके हम उन्हें अपनी जकड बनाते है। और अगर हम उन सीमाओं को आगे बढाना चाहते है, यानी अपना विकास करना चाहते हैं, तो वह पुरुषार्थ एक बार उन सीमाओं के स्वीकार के आधार पर होगा, इन्कार की स्पर्द्धा मे नही।

इसको साफ करने की जरूरत है। उदाहरण के लिए, एक बालक को लीजिये। वह सत्रह-अठारह वर्ष का हो गया है। पढने में बहुत तेज है—एफ. ए. पास कर गया है। खूब ऊँचा साहित्य उसने बाँचा है। नतीजा यह कि खूब ऊँचे ख्याल उसके हो गये है। उसका घर गाँव में है, पर वह यह मानता है कि विश्व को अपना घर समझना चाहिए। उसके माता-पिता वैष्णव या जैन या मुसलमान है। लेकिन पढ-पढ कर उसने जाना है कि सच्चा धर्म तो स्वतन्त्र है और मेरे माता-पिता संकीर्णता में पडे हुए है।

अब कल्पना में लाइये कि इस बालक का परिस्थति के साथ कैसे मेल बैठेगा ? क्या वह जो बालक सोचता है, गलत है ? गलत तो नहीं है। पर अगर उसके सही होने के जोश में घर मे पांव रखते ही वह बालक माँ-बाप के उद्धार की चेष्टा करने लगता है; कहता है कि तुम

वहम में पड़े हो, और मैं इस घर में खाना खाने को भी तैयार नहीं हूँ। अगर वह ऐसा आचरण करता है, तो आप क्या कहेंगे ? उसे विद्वान कहेंगे या मूर्ख कहेंगे ? विद्वत्ता तो उसकी सच्ची है, पर अपने स्वधर्म की मर्यादा जो वह भूल बैठा है, इससे वह सारी विद्वत्ता ही उसकी मूर्खता हो जाती है।

बालक का उदाहरण हमारी और आपकी स्थितियों पर भी एक-न-एक प्रकार से लागू है। मान लीजिये, मै जैन-कुल में उत्पन्न हूँ। पर जैनेतर को अपना भाई मानना चाहता हूँ। जैन-सम्प्रदाय की सीमा के बाहर असत्य-ही-असत्य है, यह नहीं मानना चाहता। ऐसा जैनत्व, जो जैन से बाहर प्रेम के नाते को गलत ठहराये, मेरी तबियत नहीं स्वीकार करती। मैं यह नहीं मानना चाहता कि असहानुभूति या अपमान या अनादर किसी के प्रति भी भला हो सकता है। तब मैं क्या करूँ ? क्या ऊँची गर्दन करके यह कहूँ कि मै जैन नहीं हूँ, मानव-धर्मी हूँ; और तुम जैन धर्मी हो तो भूल में हो ? मै मानता हूँ कि मेरा ऐसा आचरण अहंकार का आचरण होगा। जैन धर्म अथवा कि कोई धर्म क्या अमानव होने को कहता है। ? अगर नहीं, तो जैन धर्मावलम्बी होकर व्यक्ति के सच्चा मनुष्य बनने में क्या बाधा है ? इसलिए जिसको परम्परा से जैन धर्म प्राप्त हो गया है, वह सच्चा जैन बनने के द्वारा ही साधारणतया सच्चा आदमी बन सकता है। सच्चा आदमी बनने के लिए उसे अपने जन्म अथवा जीवन की स्थिति को इन्कार करना पड़ेगा इसकी मुझको कोई जरूरत नहीं मालूम पड़ती।

छुटपन में कहानी पढी थी कि चन्दा देखकर रामजी मचल गये। रोवें सो रोवें। मान कर ही न रहे। यह तो खैर थी कि इतने छोटे थे कि चन्दा देखकर हाथ लपकाते थे, पैर अपनी जगह छोडकर बहुत उछल नहीं सकते थे। अपनी जमीन छोडकर चंदा राजा की तरफ उलाँच भरने जितनी कहीं बदन में शक्ति होती, और मां पास न होतीं, तो रामजी गिरगिरा कर अपना सिर ही फोड़ लेते। पर गनीमत कि उनमें इतनी

ताकत न थी और मां भी पास थी। आखिर मां ने क्या किया कि थाली में पानी भरकर उस चन्दा राजा को आसमान से नीचे थाली के बीच में उतार लिया। राम जी उससे मगन हो गए, और सो गये।

हम सब पर माताएं तो रह नही गई हैं। मेरी मां तो मुझे छोड़ही गई है। उनके अभाव मे, यह समझ कर कि हम बड़े हैं, क्या चांद पर हमे मचलना चाहिए ? और इस बचपन के खेल के लिए क्या औरों को भी उकसाना चाहिए ? आसमान के चाँद को या तो धीर-भाव से हममें देखने की शक्ति हो, या अपने भीतर अक्स में लेकर उसे हम बिठा सकें। और इस तरह जिस धरती पर हम खड़े हैं उस पर से अपने पैर उखड़ने न दे। यही तो एक रास्ता है। नही तो अधर में उड़कर चांद तो हम पायेंगे नही, जहां है वहा से भी गिर पड़ेगे।

यह सब बात कहना और बच्चों के उदाहरण देना अप्रासंगिक न माना जाय। कदम-कदम पर स्थिति भग का खतरा हमारे लिये है। मैं बालक हू ही, पर दुनिया में कुछहै जो अक्षर पढकर साक्षर बने है। उन में उत्साह है, कल्पना है। वे लम्बी दौड़ दौड़ते और ऊँची फॉद लगाते है। वे यह तक क्यो मानें कि वे कम है ? उन्हे अपने खेल मे आनंद है। गिरते है तो उन्हे हक है कि उसमें से वे सबक न लें बल्कि खेल का और मज़ा ले। वे उस आनंद की अतिशयता को झेल नही सकते, इससे हम तुमको भी वह आनंद देना चाहते है। अब हम क्या करे ? हमारे पास मा है, या कोई हमें मां तुल्य है, या कोई बापू है, तब तो ठीक है। धर्म सकट मे हम वही पहुँच जायंगे। पर यदि हम कुछ बड़े होगये है और मां हमसे छिन गई है, और किन्ही को बापू बना लेने जितनी विनय या सुविधा हमे नही है, तो उपाय होगा कि स्वधर्म को हम अपने पकड़े रहें और उसकी गोद न छोड़ें।

हमारे लिए स्वधर्म हमारी मर्यादा है। मानो समूचा धर्म हमारे लिए वह है। हमारी स्थिति की सीमाएँ है। हम बालक है या युवा है; या अपने परिवार मे बड़े है या नगर-मान्य है, या समाज-रक्षण की कुछ

ज़िम्मेदारिया हम पर है, अथवा राष्ट्र नेता है या कि लोकनायक है— इन सब हालतों में हमारा स्वधर्म सीमित है। अलग-अलग हालतों में सीमाएँ भी अलग हैं। बालक पर लोकनायक का कर्त्तव्य नही आता है। पर उन-उन स्थितियो में उन्ही सीमित स्वधर्मों के पालन मे हमारा मोक्ष है। जो व्यक्तिगत कर्त्तव्य का पालन नही करता है, वह पारिवारिक ज़िम्मेदारी निबाहने के योग्य नही बनता। और जो छोटे क्षेत्र के कर्त्तव्य का समुचित पालन कर दिखाता है, उसी पर बड़े क्षेत्र के दायित्व का भार आता है। विकास और मुक्ति का यही रास्ता है। व्यक्तिगत कर्त्तव्य की उपेक्षा करके सार्वजनिक, सामाजिक या राष्ट्रीय नेतृत्व अथवा बड़प्पन अपनाने की कोशिश निष्फल और अनुचित है। इससे धर्म-सकरता उपस्थित होती है। निजी जीवन और सार्वजनिक जीवन दोनो उससे क्षुब्ध होते हैं।

स्वधर्म शब्द मे ही यह आता है कि वह सब के लिए भिन्न है। अर्थात् दूसरे का स्वधर्म मेरे लिए पर-धर्म है।

अब प्रश्न है कि परधर्म के प्रति मेरा क्या व्यवहार हो? "स्वधर्मे निधनम् श्रेय. परधर्मो: भयावह।" अर्थात्, स्वधर्म न छोड़ना और पर धर्म न ओढना। परधर्म पर का धर्म है। मेरा वह नही है। पर धर्म मानकर भी मुझे उसके प्रति कैसा व्यवहार करना चाहिए—यह प्रश्न बना ही रहता है।

इस प्रश्न के हल के लिए हमारा दूसरा अश काम देगा। वह यह कि आदर्श असीम है। सत्य मेरी मुट्ठी मे नही है। उस पर मेरा स्वत्वाधिकार नही है। आदर्श में खंड नही हो सकते। इससे आदर्श सत्य है। सत्य मे हम-तुम सब समाये हैं। सब धर्म उसमें अभिन्न हैं। सब जीव उसमे एक है। असल मे तो सभी तरह का द्वैत उसमे लीन है। वह अखण्ड है, अविभाज्य है। उसीको कहो परमात्मा, या ब्रह्म, या कुछ भी। हम अपना पृथकता में जीवात्मा है, अपनी एकता में परमात्मा।

उस एक की झाँकियां अनेक है। जो जहाँ है वहाँ से वह उसे अपने

ही रूप मे देखता है। उनमें कोई झाँकी गलत नहीं है। वे एक-दूसरे की पूरक हैं। वे एक-दूसरे से भिन्न हैं, पर अपनी-अपनी जगह एक-सी ही सही हैं। कोई अपनी झाँकी का चित्र उजला दे; दूसरा धुँधला। वह तो चित्र-दाताओं पर है। कोई उसे अपने जीवन में एक रूप में प्रतिफलित करे; दूसरा दूसरे रूप में घटित करे—वह तो उनकी परिस्थिति और क्षमता पर अवलम्बित है। पर दोनों स्थानों पर जितनी ऐक्यानुभव और ऐक्य-प्रभाव की तीव्रता है उतनी ही सत्यता है। रूप और आकार पर कुछ मौक़ूफ़ नही है, असलियत तो आत्मा है।

इस ऊपर के सूत्र से परिणाम निकला कि स्वधर्म मेरे लिए सब कुछ हो, पर उसी भाँति परधर्म पर के लिए सब कुछ है। अर्थात् मुझे जितना स्वधर्म प्यारा होना चाहिए, मेरी कोशिश होनी चाहिए कि दूसरे का स्वधर्म उसे उतना ही प्यारा बने। स्वधर्म का आरोप नही किया जा सकता। स्वधर्म का आरोप एक तरह से पर-धर्म का स्वीकार ही है। किन्तु स्वधर्म मे निधन अच्छा, पर धर्म का स्वीकार कदापि इष्ट नही। और जब हम अपना धर्म किसी से मनवाना चाहते है तो उसका मतलब होता है कि उस पर परधर्म लादना चाहते है। यह तो हिंसा है।

मै इसी ढग से हिंसा-अहिंसा को देखता हूँ। अपने स्वधर्म पर मै मर सकता हूँ। अपने भीतर अनुभूत सत्य पर आग्रही रहकर मुझे मौत आती हो, हर्ष से मुझे उसे भेटना चाहिए। अब अहिंसा की पहचान यह है कि दूसरे के स्वधर्म की रक्षा के निमित्त वैसा ही मै त्याग कर सकूँ। मुसलमान के इस्लाम के लिए, अर्थात् मुसलमानो को हिन्दू बनाने नहीं बल्कि मुसलमान को सच्चा मुसलमान बने रहने में मदद देने के लिए, अपना सब कुछ होमने की लगन मुझमें जितनी हो उतनी ही अहिंसा माननी चाहिए।

व्यवहार के लिए इस पर से यह नियम निकलता है कि यदि मै गो-भक्त हिन्दू हू, पर एक मेरा भाई मुसलमान अपना धर्म मानकर गो-

कशी करता है, तो या तो मैं प्रेम भाव से उस भाई का हृदय जीतूं या मुझमे सचमुच इतनी करुणा हो कि गाय की रक्षा के लिए अपनी गर्दन मुसलमान भाई को दे दूं। पर थोड़ी देर के लिए समझिये कि एक मेरे जैसा गो-भक्त हिन्दू गो-वध की बात पर उत्तेजित होकर उस मुसलमान भाई को मारने चलता है। तो यह बिलकुल उचित होगा कि मैं उस भूले गो-भक्त की राह मे बाधा बन जाऊँ और अपने जीते जी उस मुसलमान भाई को कुरबानी में बलात् विघ्न न पडने दूं।

दूसरे के धर्म के लिए आदर-भाव सच्चा तभी उत्पन्न होगा जब स्वधर्म पर आरूढ रहनें की हममे निष्ठा हो। यह मेरी पक्की प्रतीति है। जिममें स्वधर्म-निष्ठा नही है; दूसरे के स्वधर्म के प्रति त्याग की शक्ति भी उसमें नही होती है।

अर्थात् अपना धर्म छोड़कर सब धर्मों को एक बनाने का कोशिश बेकार कोशिश है। धर्मो की एकता तो परमधर्म में अब भी है ही। फिर जो उस में स्थिति, काल और परम्परा की दृष्टि से बाहरी अनेकता दीखती है उसे मिटाने का आग्रह क्यो ? मनका ऐक्य शरीर की पृथकता पर और भी सच्चा बनता है। जब प्रेम दो शरीरो को मिलाता है, तब वह मोह कहलाता है। भोग मे दो शरीर अपनी पृथकता सहन न करने के कारण मिलते है। इसी से भोग का फल ऐक्य नही, अनैक्य होता है। प्रेमी-प्रेमिका का विवाह हुआ कि थोडे दिनों बाद उनका प्रेम उड़ जाता है। मैंने तो सौ फी सदी यह बात देखी है। क्यो ऐसा होता है ? इसका कारण यह कि प्रेम मन की एकता चाहता है, पर वे शरीर की एकता के प्यासे हुए। इसलिए प्रेम मोह बना, मोह से काम आया। और फिर तो देखा गया उसकी पूछ में घृणा आ गई है, प्रेम उड़ गया है।

आज मैं इस बात को बहुत ज़ोर से कहना चाहता हू। क्योकि लोग हैं जो धर्म-हीनता की जमीन पर सब धर्मों का मेल करना चाहते हैं। वे भले आदमी है। उनका अभिप्राय शुभ है। पर उनको समझना चाहिए कि जो ऊपरी अनेकता को खण्डन करना चाहती है, वह सच्ची

एकता नही है। दो व्यक्ति अपना शरीर एक-दूसरे से पवित्र रखकर ही सच्चे तौर पर परस्पर की आध्यात्मिक अभिन्नता पा सकते है। शरीर स्पर्श का सुख जिस ऐक्यानुभव के लिए जरूरी है, उसमें अवश्य जड़ता और मोह का अंश है।

बहुत लोग है जो बहुत ऊंचे उठ गये है। यानी वे नामधारी सब सम्प्रदायो, जातियो, धर्मो और हद-बंदियो से पार हो गये है। वह विश्व की एकता में रहते है। विश्व से कम किसी के साथ वह अपना नाता नही मानते। ऐसे लोग पूज्य हो, पर ऐसे लोग विश्व की सच्ची एकता को सम्पन्न नही कर सकते है। जो स्वयम् नही है, वह सब-कुछ कैसे हो सकता है ? शरीर से कोई विश्व मे कैसे रह लेगा ? रहेगा तो एक कमरे में ही। इसी तरह सब भाषाए कैसे बोल लेगा ? बोलेगा तो एक समय एक भाषा ही। अर्थात् अपने प्रत्येक शरीर-व्यापार द्वारा व्यक्ति सीमित तो रहेगा ही। उस सीमा की स्वीकृति पर लज्जा क्या ? बल्कि उस सीमा की स्वीकृति के साथ ही आत्मिक असीमता उपलब्ध करने का साधन हो सकता है।

स्वधर्म के सीमित और आदर्श के असीम होने के कारण हमको एक परम-धर्म प्राप्त होता है। वह है अहिंसा। मेरा अपना धर्म सीमित है,यह मुझे क्षण के लिए भी न भूलना चाहिए। अर्थात् किसी दूसरे पर उसका बोझ, उसकी चोट या उसका आरोप मै नही डाल सकता। यह अहिंसा का तकाजा है कि मै ऐसा न करूं। दूसरे के लिए उसका स्वधर्म ही श्रेष्ठ है। उसको उसी मे निष्ठित रखना मेरा कर्तव्य है। इसका आशय है कि वाक्-शक्ति, प्रचार-शक्ति अथवा किन्ही भी और साधनों से विशेषण-युक्त किसी धर्म का प्रचार करने का आग्रह नही रखना चाहिए। सच्चा धार्मिक ऐसे आग्रह से शून्य होगा। किसी की श्रद्धा विचलित करना उचित नही है। हम कैसे जानते है कि हम जो जानते है वही ज्ञान की परिसीमा है ? अगर परिसीमा नही है तो हम कैसे दूसरे की श्रद्धा पर

आक्षेप कर सकते है या उसे अवहेलना से देख सकते है। अहिंसा का सार यही है।'

साथ ही सत्य की जो झाँकी मुझे मिली है, मुझ अपूर्ण को तो वही पूर्ण सत्य जैसी है। इसलिए उससे न डिगने मे मुझे जान पर भी खेल जाना चाहिए। यही सत्याग्रह है। यह ध्यान रहे कि उस आग्रह की सीधी चोट मुझसे बाहर कही न पडे। अर्थात् यदि आग्रह सचमुच सत्य है, तो वह अत्यन्त सविनय ही हो सकता है। विनय का जहाँ भंग हो, वहा आग्रह भी सत्य नहीं है।

यहा प्रश्न हो सकता है कि सत्य में तो सभी समाया है—मेरी झाँकी भी, मेरा स्वधर्म भी और सब का स्वधर्म भी। फिर उस आदर्श-रूप सपूर्ण सत्य को ध्यान में लें तो आग्रह की कहाँ गुजाइश रह जाती है ?

बेशक यह सच है। शुद्ध सत्य मे तो सब भेद लय है। हिंसा-अहिंसा का भेद वहाँ नही। ईश्वर अलिप्त है। कुछ उसको नही छूता।

पर हम तो अपूर्ण प्राणी है। इससे जब तक अपूर्णता है, तब तक अहिंसा ही हमारा धर्म है। क्योकि जिसके प्रति हिंसा हो, उसमे भी तो ईश (सत्य) तत्व है। इससे हिंसा सत्य के प्रति द्रोह हो जाती है और अहिंसा ही सत्य को पाने का उपाय रहता है। हम अपूर्ण है, इसीसे हर काल और हर स्थिति में अहिंसा का परमधर्म हम पर लागू है।

मै नही जानता कि अपनी बात आपके आगे मै साफ रख सका हूँ। समय होता तो अपनी बात को और अच्छी तरह उदाहरणो के साथ खोल कर रखता। मै मानता हूँ कि अतिम आदर्श यानी परमात्म-स्थिति और प्रस्तुत अवस्था यानी हमारी आज की व्यक्तिगत स्थिति,इन दोनों किनारों के बीच सतत विकासशील धर्म की स्थिति को भी,और गति को भी कैसे निबाहा जाय—यह बहुत महत्वपूर्ण प्रश्नहै। यही जीवनकला है। और इसीका ज्ञान सम्यक्-ज्ञान है। निरपेक्ष सत्य और सापेक्ष वास्तविकता—इन दोनों तटो को छूता हुआ हमारा जीवन है। एक ओर ऐहिकता पर हमारे पैर है दूसरी ओर अध्यात्म में हमारी निष्ठा है। यो दोनों परस्पर विरोधी

मालूम होते है। किन्तु विरोध ही संयुक्त होता है हमारे जीवन में। संयुक्त होता है; नष्ट नही होता। उसके नाश का कोई कृत्रिम और बाहरा उपाय नही है। किसी तत्वशास्त्र या तर्क शास्त्र या कला अथवा विज्ञान से वह नही हो सकता। उपाय धर्म ही है जो पिंड को ब्रह्माण्ड से मिलाता है। ध्यान रहे कि पिंड अब भी भीतर से ब्रह्म-स्वरूप ही है। पिंड यह पहचानेगा तो अपनी पिंडरूपता से उसका झगड़ा समाप्त हो जायगा। ऐसा होने पर साढ़े तीन हाथ के शरीर में रहकर भी अतः प्रकृति मे व्यक्ति निखिल के साथ तत्सम होगा, व्यष्टि समष्टि होगा।

अन्त मे जिस विषय को लेकर हम चले थे, अपनी यात्रा में उसके बारे में हमें क्या परिणाम हाथ लगे है—एक बार फिर इसे देख लेना चाहिए।

१—व्यक्ति रूप मे हम सीमित है। इससे स्वधर्म भी हमारा सीमित है।

२—वह स्वधर्म है, इससे हम से दूसरे के लिए वह पर-धर्म है। मुझ पर वह लागू नही है।

३—स्वधर्म पालन से स्वधर्म की मर्यादा आगे बढ़ती यानी व्यक्ति का विकास होता है।

४—स्वधर्म के पालन मे मुझे मृत्यु से भी मुंह मोड़ने का हक नही है। पर जो मेरे धर्म को अपना धर्म नही मानता, मेरा कर्त्तव्य है कि उसको उसके स्वधर्म मे ही निष्ठित रखने में सहकारी बनूं।

५—यह अनुभव सिद्ध है कि जो जितना स्वधर्म निष्ठ और उसके पालन मे अपने प्रति निर्मम होता है वह दूसरे के प्रति उतना ही उदार, आदरशील और समभावी होता है।

६—समभावी होने का मतलब स्वधर्म-हीन होना नही। बल्कि दूसरे मे आत्मवत् वृत्ति रखकर उसके स्वधर्म को उतना ही अक्षुण्ण और पवित्र मानने और उसके लिए उतना ही त्याग कर सकने की शक्ति होना है, जितना स्वयम् स्वधर्म के लिए। यह काम किसी तर्क-कौशल या

शाब्दिक समतोलता से नही हो सकता, अंत:सिद्ध अहिंसा से ही सम्भव हो सकता है !

७—आदर्श अखंड है। उस पर हमारी अपूर्णता का सीमा विभाजन नही है।

८—जगत् के नाम-रूपात्मक सब धर्म अमुक सम्प्रदाय अथवा जाति के स्वधर्म ही है। वे भी इस तरह सीमित है। वे निराकार आदर्श के साकार, अव्यक्त के अभिव्यक्त और निर्गुण के सगुण रूप है।

९—सब धर्म सच है। उनकी सचाई मे तरतमता नही है। इसलिये उनमे तुलनात्मक बुद्धि गलत है। धार्मिक की अंत. शुद्धि की अपेक्षा उन में सचाई पड़ती है।

१०—आदर्श के असीम और स्वधर्म के सीमित होने के कारण अहिंसा सबके लिये सम-सामान्य और परम धर्म है।

११—असीम को पकडने की लालसा में सीमाओं को लाँघना या ताड़ना गलत है। असीम की साधना सीमाओ के भीतर रहकर करनी है। शरीर की सीमा आत्मा की सीमा नही है। और शरीर में रहकर आत्मा बहुत दूर, लगभग अनत दूर, तक उन्नति कर सकता है।

१२—ऐक्य आत्मा मे है। शरीर के ऐक्य की प्यास लिप्सा कहलायगी। आत्मैक्य साधने के लिये शरीर को पवित्र अर्थात् असपृक्त रखना चाहिये। यह अनुभव की बात है कि भोग से व्यक्तियो के बीच का अन्तर बढता है और सयम से उनमें प्रेम दृढ होता है।

१३—आदर्श एक है, धर्म अनेक। अनेक द्वारा ही एक की उपलब्धि होगी। अनेकता से रुष्ट होकर, क्षुब्ध होकर, ऊपरी जोड-तोड़ बिठाने से कुछ न होगा। सुधारको के इस ढग के नेकनीयती से किये गये प्रयत्न विशेष-फल न ला सकेंगे। रूपाकारमय वस्तु निर्गुण अध्यात्म की आँच मे ही पहुच कर अनायास अपने रूप और आकार के बन्धन से मुक्त होगी। समझौता इस क्षेत्र का सत्य नही है।

१४—दूसरे के स्वधर्म के लिये अपने स्वधर्म का अल्पाश भी त्याग

किये बिना अपना उत्तरोत्तर अधिक त्याग कर सकना सजीव अहिंसा का लक्षण है। अहिंसा-धर्म स्थितिबद्ध नही, बल्कि गतिशील है। इसलिये अहिंसक कभी अपनी अहिसा को काफी नही मान सकता। अपने प्रति निर्मोह दूसरे के प्रति प्रेम की अर्थात् अहिंसा की परिभाषा है।

बस, अब हुआ। गिनती आगे भी बढ सकती है। पर अब मै पीछे रहूगा। आज तो निश्चय मैने आपको बहुत उकता दिया है। पर कोई हरज नही है। अब मै आपसे अपनी जगह जाने की अनुमति ले लेता हूँ। क्षमा करे। प्रणाम![1]

१. भाषण पर्यूषण व्याख्यान माला, कलकत्त

: ११ :

धर्म

जिस विषय पर मुझे बोलना है, वह देखता हू है 'धर्म'। यह तो मेरे लिए घबराने वाली बात है। धर्म-शास्त्र मै क्या जानता हूँ? पर धर्म शायद जानने की वस्तु नही। वह तो करने की है। यह नही कि बिन जाने करने की हो, पर करने द्वारा ही उसे जानना होता है। क्रिया नही तो ज्ञान भी नहीं। यानी बोलने से तो धर्म का सम्बन्ध है ही नही। भीड-भाड से भी उसका वास्ता नही है। धर्म की साधना एकान्त में और मौन द्वारा होती है। बोलने से तो वाद बनते है। वाद से विवाद खडे होते है। अनेकानेक तो आज वाद है। उन वादों मे आज कल खीचतान और अनबन है। तू-तड़ाक और मारपीट तक सुनी जाती है। बोलकर उस कलह के कोलाहल में अक्सर बढती ही हुआ करती है। तब उस बोलने में धर्म कहां रखा है? इससे वृथा बोलने से बचना ही धर्मानुकूल है।

धर्म अनेकता में मेल पैदा करता है। बहुतेरे जो वाद-विवाद है, धर्म उनमें समन्वय लाता है और शान्ति देता है। धर्म इस तरह शका की नही, निष्ठा की वस्तु है। स्वार्थ हमें फाड़ते है ता धर्म हमें जोडता है।

फिर भी भाग्य का व्यग समझिए कि उस धर्म के बारे में मुझे बोलना होगा। हाँ, बोलने की भी जगह हो सकती है, बशर्ते कि वह फल-प्रद हो। उससे सद्-कर्म की प्रेरणा और उत्पत्ति हो। तब तो बोलना धर्म है नही तो अधर्म। कवि का वचन है 'बुद्धि:कर्मानुसारिणी।' उर्मा

तरह बोलना भी कर्मानुसार होना चाहिए। मै हूँ कि कोई हो, कथनी के पीछे अनुरूप करनी नही है तो वैसी कथनी पाखंड हो जाती है। वह बधन और व्यर्थता बढ़ाती है।

इस पर्यूषण-व्याख्यान-माला के आयोजन को सिद्ध तो तभी कहा जायगा, जब उससे कर्त्तव्य-मार्ग मे स्फूर्ति और तत्परता मिलेगी। नहीं तो कहे हुए शब्द बुद्धि मे चचलता लाते हैं। बुद्धि छिड़ जाने पर यदि आदमी ठीक काम मे न लग जाय और न लगा हो तो अशान्त रहता है। उसको चैन नही पड़ता। इससे फिर हानि होती है। मै यह देखता हूं कि जहाँ हज़ार-पाँच सौ का जमाव रहता है, वहाँ व्याख्यान व्यसन हो जाता है। बोलने वाले को उसका नशा चढ़ जाता है और सुनने वाले भाषण को अच्छा-बुरा कह कर वही पल्ला झाड़ चलते है। यह धर्म थोड़े ही है।

इससे पर्यूषण-पर्व की यह व्याख्यान-माला हवा मे नही उड़ जानी चाहिये। उसका कुछ परिणाम निकलना चाहिए। अगर परिणाम में एक भी आदमी स्वार्थ को कम कर जीवन को धर्म-सेवा मे, लगाने को चल पड़ा तो बेशक यह आयोजन सफल हो गया समझिये। मैं भी तो बात कहता हू, मै कौन काम करता हू। पर सच्चा आदमी मुँह से कम कहता है। उसका चरित्र उससे अधिक कह देता है। धर्म-निष्ठ का तो जीवन ही बोलता है। उसे फिर अलग मुँह से कहने को बहुत कम रह जाना चाहिए।

धर्म क्या है? आप्त वचन है कि वस्तु-स्वभाव धर्म है। पानी शीतल रहेगा और आग गरम। पानी का धर्म शीतलता, आग का गरमी। इसी तरह आदमी को खरा इन्सान बनना चाहिए। अर्थात् मनुष्य का धर्म है मनुष्यता।

लेकिन कहा जायगा कि क्या कोई अपने स्वभाव से बाहर भी जा सकता है? जो जो करता है, अपने स्वभावानुकूल। चोर का स्वभाव चोरी करना, झूठे का झूठ बोलना। तब धर्म-अधर्म का कहाँ सवाल

मन्दिर बन जाता है। आत्म-विमुख होकर तो वह बिगड़े घोड़े का तरह दमनीय है ही।

बेशक अशरीरी सिद्ध की कल्पना भी हमारे पास है। चरम आदर्श की बात कहेगे तो वहाँ शरीर तक नहीं रहता। आत्मा ही अपने सच्चिदानंद-स्वरूप मे विराजती है।

अच्छा, तात्विक तो यह बात हो गई। वह सरल भी लगती होगी। अन्तर्विरोध को जीतना, इन्द्रियों को वशीभूत करना और स्वय उत्तरोत्तर शुद्ध चिन्मय आत्म-तेजोरूप होते जाना धर्म का मार्ग है।

पर व्यवहार मे कठिनाई दीखती है। ठीक ही है। चलेगे तब तो राह की बाधा का पता चलेगा। चलना ही न शुरू करे तो आगे का रास्ता सीधा-सपाट दीख पड़े तो क्या अचरज ? सो धरती पर कदम बढ़ाते है कि उलझन दीखती है। यहाँ केवल रूप मे धर्म नही मिलता, नाना विशेषणों के साथ वह मिलता है। जैसे जैन-धर्म, सनातन-धर्म, ईसाई-धर्म, बौद्ध-धर्म, और इस्लाम धर्म। कोई धर्म अपने को गलत नही मानता। और बेशक कोई ग़लत हो भी क्यों ? पर हर धर्म मे कुछ लोग ऐसे है, जो अपने धर्म को इतना एकान्त सही मान लेते है कि दूसरे के धर्म को गलत कहने को उतारू हो जाते है। तब धर्म का जिज्ञासा मे अपने से बाहर निकल कर आने वाले को बड़ी दुविधा हाती है। अनेक उपदेष्टा मिलते है, जो कहते है कि हमारे डेरे मे आ जाओ, हमारे पास मुक्ति का मार्ग है। और वह कहते है कि हमारा साहित्य पढ़ो। तुलनात्मक बुद्धि से देखकर विवेक से काम लो। तब हो न सकेगा कि हमारे ही धर्म में तुम न आ मिलो।

दावा सब धर्मो का यही है। और झूठ भला किसको ठहराया जाय? धर्म-तत्व किसी शकल के पात्र में हो, अगर वह है तो पात्र उपयोगी है। यानी नाना नाम वाले जितने सम्प्रदाय है, धर्म-पूर्वक वे सब सच बनते है। धर्म-हीन होकर वे सब मिथ्या बन जाते है। जैसे जब तक आत्मा है तब तक अमुक नामधारी व्यक्ति की देह आदरणीय है। आत्मा

निकल जाने पर वह देह रोग का घर बन रहेगी । तब उससे जितनी जल्दी छुट्टी पाली जाये, उतना ही अच्छा । इसी तरह जैन अथवा और नामो के नीचे जो सम्प्रदाय बन गये है, यदि वहाँ धर्म है तो वे जैन अथवा अन्य विशेषण उपादेय ठहरते है ।

पर देखने में आता है कि कही जैन-धर्म को ऐसा कस कर चिपटाया गया है कि धर्म तो उसमे से निचुड गया है और केवल 'जैन' रह गया है । ऐसे उदाहरण बिरले नही है । वहाँ जैन धर्म को धर्म के लिए माना जाता है । इस वृत्ति मे सम्प्रदाय-मूढता है ।

दूसरे सम्प्रदायो में भी ऐसी बाते मिलती है और सच यह है कि भीतरी धार्मिकता जितनी कम होती है, साम्प्रदायिक मताग्रह उतना ही उत्कट देखा जाता है । पर यह मोह है ।

मै अपनी बात कहूँ । मै अपनी माँ का इकलोता बेटा था । चार महीने का था तभी पिता मर गये । माँ ही मुझे सब कुछ रही । पर एक दिन आया कि उनकी आत्मा देह छोड़ प्रयाण कर गई । अब आप मेरी हालत जान सकते है, पर कलेजे पर पत्थर रख कर मुझे यही करना पडा कि स्मशान ले जाकर उनका शव-दाह कर आऊँ । मेरे लिए यह सुख की बात न थी; पर क्या आप लोगो मे से कोई भी यह सलाह देने को तैयार है कि मुझे माँ की देह से चिपटा ही रहना चाहिए था,छोडना नही चाहिए था ?

साम्प्रदायिक रूढियो का भी यही हाल है । यदि धार्मिक तेजस्विता इतनी है कि उसके स्पर्श से क्रिया प्राणवान हो जाय तब तो ठीक, नही तो आग्रह से निष्प्राण रूढि का पालन कैसे ठीक कहा जा सकता है ?

विशेषण से विशिष्ट होकर ही जो जगत-व्यवहार में धर्म मिलता है, इससे बुद्धि-विचक्षण पुरुषो को भी भ्रान्ति होती देखी जाती है । शुद्ध धर्म के मोह में उनको उन विशेषणो के प्रति अवज्ञा हो जाती है । ऐसी अवज्ञा आजकल अक्सर देखी जाती है । पर यह उचित नही; क्योंकि जो रूप-नाम से हीन है, वह जगत के लिए नही के जैसा है । इसलिए

सम्प्रदाययुक्त धर्म को भी एकान्त अनुचित मानना भूल है।

पर धर्म के खोजी की कठिनाई ऊपर की बात से और बढ़ जाती है। यह धर्म भी सच, वह धर्म भी सच। पर दोनों एक तो हैं नहीं। यह देख कर वह झमेले में पड़ सकता है। उधर से पुकार सुनता है तुलनात्मक अध्ययन की। तब वह क्या तुलनात्मक अध्ययन में पड़े और तय करने चले कि कौन इनमें कम श्रेष्ठ है और कौन अधिक ?

मैं मानता हूं कि जिज्ञासु इस तुलनात्मक अध्ययन के चक्कर में पड़ा कि खोया गया। उसे फिर राह न मिलेगी और वह शब्द की भूल-भुलैयां में भटक रहेगा, क्योंकि फैसला करने की बुद्धि से धर्मों में तुलना करने चलना एक अहंकार है और गलत है।

अरे भाई, धर्म वहां बाहर खोजे मिलेगा ? उसकी गुहा तो भीतर है। भीतर झाँको तो वहाँ से एक धीमी लौ का प्रकाश प्राप्त होगा। आत्मा की आवाज़ सब के भीतर है। उसे सुनते चलो। उसी से बाहरी उलझन कटेगी।

पर अधीर कहता है कि अजी, कहाँ है वह आत्मा की आवाज ? हम सुनते है और कुछ सुनाई नहीं देता। वह भाई भी गलत नही कहता। पर उसे अधीरता पहले छोड़नी होगी। बात यह है कि हमारे अन्दर तरह-तरह की भावनाओं का इतना कोलाहल मचा रहता है कि वह धीमी आवाज कैसे सुनाई दे ? वह तो है, लेकिन उसे सुनने के लिए शोर की तरफ से कान बन्द करने होंगे। तरह-तरह के वाद-विवाद, शास्त्रार्थ चल रहे है। उन सब की तरफसे बहरे बन जाना होगा। जो बाहर दीख रहा है, उस पर आँख मूद लेनी होगी। तब जो नहीं सुनता, वह सुनाई देगा और नही दीखता वह दिखाई देगा। बस उसको गह लीजिये और उसके पीछे जो भी छोडना पड़े छोड़ दीजिए। जहाँ वह ले चले, चले चलिये। ऐसे आप देखेंगे कि आप सही धर्म-पालन कर रहे हैं और धर्म के नाम पर जो जजाल और दुकानदारी का पसारा फैला है. उससे बच सके है।

पर दुनियादार कहेगा कि आप कहाँकी आत्मा की बातचीत करतेहो? आई मौत कि सब उड़ जाता है। किसने भला आत्मा देखी है? जन्मा है सो मरेगा। मर कर क्या छोड जायगा? आत्मा तो वह छोड़ नही जाता, पर धन-दौलत उसकी छूट जाती है। धर्म की कमाई कहाँ दीखती है? धन की कमाई आदमी के मरने के बाद भी टिकती है। एक ने जीते-जी पाँच हवेलियाँ बनवाई। वे पाँच सौ वर्ष तक रही तो तब तक उसकी याद रहेगी : नाती-पोतो और परपोतों का भला होगा। वह टिकने वाली कमाई है। इसके सामने आत्मा की बात हवाई बात नहीं तो भला क्या है?

ठीक तो है। आते हुये हावडा पुल से आना हुआ कि पास एक बहुत बड़ा क्रेन दीखा। भला उसकी ताकत का क्या पूछना? सैकड़ो मन बोझ को गेंद की तरह यहा से वहां फेंक दे। ऊँचा ऐसा कि आसमान की छाती में मुक्का मारता हो। आदमी की उसके आगे क्या-हस्ती? फिर लडाई मे हिटलर के बम याद कीजिये। एक-एक ऐसा कि यह हजारो को तहस-नहस कर दे और क्षण मे भरी बस्ती वीरान कर दे। दुर्दान्त वास्तविकता है। इसके आगे आदमी चीटी जितना भी तो नही। फिर क्या धर्म? और क्या आत्मा? उस ठोस लोहे की विकराल वास्तविकता के आगे वह निरी खामख्याली ही नही है?

एक बार तो बिन सोचे मन सहमता है। मालूम होता है कि भीमाकार जो लोहित रुद्र सामने है, वह तो है और वह जो निराकार धर्म-तत्व की बात है, वह नही है। पर एक क्षण को मन सहम भी जाता हो; लेकिन तभी अन्दर से प्रतीति आती है कि उस दैत्याकार क्रेन के पीछे चाभी घुमाता हुआ साढे-तीन हाथ का एक आदमी बैठा है। क्रेन कितना भी बडा हो वह उस नन्हे सचेतन आदमी के हाथ में जड़ की भांति निष्क्रिय है। इसी तरह बम कितना भी नाशक हो, पर हिटलर उसके पीछे है तभी उसकी शक्ति विनाश कर पाती है। अर्थात् जड़ की ठोस भीमता के पीछे चैतन्य की अव्यक्त सत्ता ही काम कर रही है।

और कहाँ है आज ऐतिहासिक काल के महाकाय जीव-जन्तु ? और साम्राज्य और सत्ताएं ? आदमी ने अपने अहंकार में जो कुछ खड़ा किया वह सब एक दिन खडहर बन रहा । पर बुद्ध और महावीर को हुए हजारो वर्ष हा गये और ईसा की आज यह बीसवी सदी है । काल के इस गहन पटल का भेद कर इन महापुरुषो का सदेश आज जीवित है और उसके भीतर से वे स्वय अमर हे । कहाँ है सम्राटों के अतुल वैभव, महल-अटारी कि जिनकी उम्र तुम ज्यादा बताते हो? यह सब कुछ धूलमे मिल गया है । काल ने उसे लथेड़ डाला है । फिर भी उस काल पर विजयी बना हुआ और मृत्यु के बीच अमृत बना हुआ प्रेम का सदेश सदियो के अन्तराल से आज भी हमे सुन पडता है ।

इसलिये धन की कमाई नही रहती, धर्म की ही कमाई रहती है, पर वह कमाई दीखती नही । धरती मे का बीज भी कही दीखता है ? पर अधीर उसका फल चाहता है । किन्तु उसका तत्कालीन प्रभाव नजर नही भी आता । अनातोले फ्रांस की एक कहाना है । उसमें दिखाया गया है कि ईसा जब जिन्दा थे तब वह एक अवारा उठाईगीर के मानिन्द समझे जाते थे । गरूर मे मस्त अपने को ऊचा माननेवाले लोग उन्हें हिकारत से देखते थे । लेकिन लोगों की घृणा से ईसा को क्या ! उन्होंने तो अपने को प्रेम से भरा रखा । वह फांसी चढ़ गये, पर फांसी चढाने वालों के लिए उनका मन करुणा से भरा रहा । आज फासी देनेवाले वे अफसर कहाँ है ? कौन उनको पूछता है ? और ईसा को आज अवतार मानकर करोडो लोग गद्‌गद् हो जाते हैं । यह धर्म की महिमा है या किसकी ?

धर्म का बीज इतना छोटा है कि देखने को ऊपर की नही, भीतर की आँख चाहिये, और घास की तरह जल्दी वह उग नही आता । इससे धर्म की श्रद्धा कठिन होती है । पर यही उस श्रद्धा की कामत भी है । तुम्हारी प्रतिष्ठा न हो, लोग तुम्हे न पूछे, वल्कि उल्टे त्रास दें और

हँसी उडावे तो भी धर्म से विमुख कैसे हुआ जा सकता है ? उस श्रद्धा का भीतर जगाकर सब तरह की प्रतिकूलता को प्रेम से जीतना है।

आज तो उसी श्रद्धा की माग है। मार-काट मची है और भोग के प्रतीक धन की पूजा की जा रही है। भौतिक सुख-सुविधा ही एक इष्ट वस्तु समझी जाती है। बाकी भ्रम। पश्चिम की कल-पूजा और कला-पूजा के पीछे यही इन्द्रिय-परायणता है। इस नास्तिक जीवन-नीति की एक बाढ हा आ गई है और घर-घाट उसमे बहता हुआ दीखता है। ऐसे मे आत्म-श्रद्धा भारत ने खोई कि सब गया।

मूलभूत खतरा पश्चिम से आया भौतिक दर्शन है। पश्चिम यो तो उन्नति कर रहा है, प्रगति कर रहा है, पर वह विनाश के आवर्त्त के किनारे भी पहुँच रहा है। उस जीवन-नीति मे जोर दिया जाता है 'अह' पर। कहते है 'Develop personality' (व्यक्तित्व का विकास करो)। यह उनका मन्त्र है। पर इससे थोडी दूर बढने पर ही स्पर्धा पैदा हाती है। इस 'Developed personality' (बढे हुये व्यक्तित्व) का जोर अपने ऊपर नही, दूसरे के ऊपर खर्च होता है। परिणाम होता है हिंसा और दमन और शोषण। वहाँ वासनाओ को उत्तेजन दिया जाता है, यहाँ तक कि उनका राष्ट्र-प्रेम नशे का रूप ले लेता है। इस नशे में समूह-के-समूह सगठित होते है और दूसरो को ललकार देते है। समझा जाता है कि वे बढ रहे है, पर पडौसी को पराजित कर और हीन समझ कर आगे बढने वाली सभ्यता झूठी है। वह वृत्ति धार्मिक नही, अधार्मिक है। धार्मिक वृत्ति कहती है कि व्यक्ति सेवक बने। अपने को शून्य और अकिंचन मानते और बनाते रहने की पद्धति सच्ची धार्मिकता है।

सोचता हूँ कि इस दुनिया में सच्चा करिश्मा क्या है तो मुझे मालूम होता है कि जहाँ सब अपने-अपने अहकार में डूबे है, उस जगत मे सच्ची विनम्रता ही सबसे बड़ा करिश्मा है। जो कृतार्थ भाव से अपने को सबका सेवक बनाता है, वही धन्य है।

एक-दूसरे को कुहनी से ठेलते हुए, दबाते-कुचलते हुए खुद आगे

चढने का रोग विलायत मे है तो हिन्दुस्तान में भी है। हिन्दुस्तान मे वह कम नही है। इस तरह सफलता भी पाई जाती-सी दीखती है, पर वैसी दुनिया की सफलता कोरा झूठ है और दम्भ है।

महावीर के नाम पर हम लोग मिलते और जयध्वनि करते है। हम उनके धर्म की प्रभावना करना चाहते है। लेकिन महावीर ने तो राज-पाट छोडा और बन की राह ली। सुख का रास्ता तजा, दु.ख का मार्ग पकडा। दूसरों को सता कर खुद आराम पाने से ठीक उल्टी रीति उन्होंने अपनाई। वह रीति खुद दु ख उठाकर दूसरे का कष्ट हरने की, यानी अहिंसा की, थी। हम देखेगे तो पायेगे कि स्वेच्छापूर्वक पर-हित में दुःख उठाने का रास्ता ही सुख देता है। महावीर के तपस्वी जीवन का यही नही तो दूसरा क्या सार है ?

धर्म तत्व यह है कि अहंभाव छोड़ो, सेवा-भावी बनो। परिग्रह या संचय मन मे लोभ और अभिमान लाता है। पदार्थ परिग्रह नही है, उनमें ममता परिग्रह है। समाज में आज कितनी विषमता दीखती है। एक के पास धन का ढेर लग गया है, दूसरी जगह खाने को कौर नही। ऐसी स्थिति मे अहिंसा कहाँ ? धर्म कहाँ ? कुछ लोगो की ममता से समाजवादी विचार को जन्म मिला। समाजवाद लोगों मे धन का समान वितरण चाहता है। गाँधीजी अहिंसक है, पर समाजवादी तो अहिंसक नही है। इससे जब गाँधीजी कहते है कि ममता छोड़ो तब समाजवादी यह कहने का धीरज क्यों रखने वाला है ? वह कहेगा कि तुमसे मामता नही छूटती है तो मेरे तो हाथ है। मै तुम्हारा धन छीने लेता हूँ। आप सच मानिये कि हमारे आस-पास भूखे लोगों की भूख मँडरा रही हो तो उसके बीच महल के बन्द कमरे मे धर्म का पालन नही हो सकता। धर्म कहता है कि धनिक अपने धन का रक्षक ही अपने को समझे, उस पर अपना स्वत्व-भाव नही माने।

कोई जरूरत नही है कि हम चाहें कि धनिक धनिक न रहे, पर धनिक को तो अपने को गरीब ही मानना चाहिये। जिसके पास सोने

का जितना अधिक बोझ हो, उसकी आत्मा उतनी ही दबी है। पर उस सोने से अपनी आत्मा को आप अलग रखे, यानी ममता छोड दे तो सोना आपका कुछ न बिगाड सकेगा, न फिर उससे दूसरे का ही अलाभ होगा, और तब फिर वह सोना जगत का हित करेगा; क्योकि धर्म के काम में लगेगा।

दूर क्यो जाइये, अपने ही पहले श्रीमन्तो को देखिये न। कोई भला उन्हे देख कर कह सकता था कि ये कोटयाधीश है? सादा रहन-सहन, वही चाल-ढाल। पर आज की तो आन-बान ही निराली है। जैसे धन बदन पर उछला जाता हो। दिखावा बढ रहा है। अरे भाई, तुम्हारे धन है तो यह कौन बडाई की बात है? बड़ाई की बात तो त्याग मे है।

अव्वल तो त्याग का दिखावा भी बुरा है, पर कोई धन का दिखावा करने बैठे तो यह महा मूर्खता के सिवाय और क्या हो सकता है? सच्चा आदमी, यानी सच्चा धार्मिक, अपने को अकिंचन मानेगा। दिखावे पर वह कौड़ी नही खर्च करेगा। अपरिग्रही होगा और धन को परोपकार के निमित्त ही मानेगा।

भाइयो, मैंने आपका इतना समय लिया। अब जितनी जमीन हम चले है, उस पर फिर पीछे फिरकर एक निगाह डाल लें:—

पहली बात यह कि धर्म नाम की वस्तु शुद्ध रूप में नही मिलती। बाहर खोज पर चलते है तो वह विशेषण के साथ मिलती है। विशेषण अपने-आप मे मूल्यवान नही है। वे तो पात्र की तरह है। धर्म का उनमे रस है तो ठीक, नही तो बेकार।

दूसरी बात कि धर्म का मूल्य आत्मा में है। इन्द्रियो को वस में करना है और आत्म-रूप होते जाना है। इस मार्ग पर अपने-पराये की बुद्धि को मिटाना होगा। दूसरों में आत्मवत् वृत्ति रखनी होगी।

तीसरी बात यह कि अहंकार धर्म का शत्रु है और सेवा धार्मिक जीवन का लक्षण है।

चौथी बात, जिस पर कि काफी जोर भी कम होगा, कि धर्म बोलने,

जानने की चीज़ नही है। वह तो आचरण की वस्तु है। तर्क-पूर्वक धर्म तत्व को छान डालने की स्पर्धा आदमी को नही करनी चाहिए। सूरज को आँख गडा-गड़ा कर देखो तो क्या नतीजा होगा? उससे आँख ही अन्धी होगी। इसी तरह आत्मा-परमात्मा को बहुत तर्क-वितर्क के जाल डालकर पकड़ने का आग्रह ठीक नही। वह तो व्यसन हो जाता है। उसमे पडकर बुद्धि विलासिनी और निर्बल हो जाती है। परम तत्व को जान कर भला कोई चुका सका है कि हम चुका देगे? फिर उस पर वाद-विवाद क्यों? शास्त्रार्थ क्यों? घटों उलझी चर्चा क्यों? उचित है कि जितना पचे, उतना बौद्धिक ज्ञान हम ले ले। बौद्धिक ज्ञान तो अपने-आप मे कोई सच होता नही है। बारीकी से देखे तो ज्ञान और ज्ञेय की प्रथकता पर ही वह ज्ञान सम्भव होता है। पर प्रथकता तो झूठ है। इससे ऐसा ज्ञान भी एकान्त सच कैसे हो सकता है? धर्मानुभव की स्थिति वह है, जहा ज्ञाता और ज्ञेय अभिन्न है, अर्थात् जहां ज्ञान रहे उतना भी अन्तर उनमे नही है। ज्ञानवान वहाँ घुल रहता है, जैसे नोन की गाँठ पानी में गल रहती है।

यह सुन बुद्धिवादी (रैशनलिस्ट) मुझे सवालो से तोप सकता है, पर सवाल की कही शान्ति हुई है? शका शान्त होगी तो बस श्रद्धा मे। जो अनुभव की बात है, वह बहस की नही है, और समझ कर किसी ने सत्य का पार नहीं पाया है। इसलिए धर्म के विषयों में हमे नम्र और जिज्ञासु होकर चलना चाहिए।

पाँचवी बात यह कि धर्म से ऐसे व्यवहार हमें नही करने चाहिएं, जैसे धन से करते हैं। धन से हमारी गरज चिपटी रहती है। पर धर्म से बदला हम नही चाह सकते। यह तो सौदे जैसी बात हो जायगी। धन के मोल जिस तरह चीज़ें खरीदी जाती है, वैसे धर्म के बदले भी हम स्वर्ग और पुण्य खरीदना चाहें तो यह ग़लती है। धर्म तो हमें अपनी ही असलियत देता है। इससे बड़ा और दूसरा लाभ क्या होगा? यह धर्म को लजाना है कि हम उसके ज़रिये ऐश्वर्य बनाना चाहे या अपना

प्रभाव बढ़ाना चाहें। यह तो हीरे से कौड़ी का काम लेने जैसा हो जायगा। महातत्व की उपलब्धि से क्या हम क्षुद्र प्रयोजन साधने की बात सोचे? यह तो वैसे ही हुआ, जैसे ज्वालामुखी के विस्फोट पर हम अपनी चावल की हाँडी पकाना चाहे। ऐसे हाँडी भी जल जायगी, हम भी जल जायेंगे। इसलिए धर्म के उपयोग के सम्बन्ध में हम सावधान रहे। उससे लौकिक प्रयोजन साधने की इच्छा हम तज दे। ऐसी इच्छा तो हमारी कगाली का सबूत है और अज्ञान का भी।

कवि ने कहा, 'कौड़ी को तो खूब सम्भाला, लाल रतन क्यो छोड़ दिया?' धर्म वह लाल रतन ही है। पर मुट्ठी कौड़ी पर ही बधी है तो लाल रतन कैसे हाथ लगेगा? इसलिए लाल रतन लेने के लिये कौड़ी पर से मुट्ठी छोड़ देनी होगी। आप लोगो में बड़ी-बडी सम्पत्तियो के स्वामी होंगे। धर्म पाना चाहते है तो उस पर से आपको मुट्ठी छोड देनी होगी। मुट्ठी छोडने से वस्तु थोडे छूटती है। यह तो भ्रम ही है। पर दोनों हाथ लड्डू का भरोसा मै आपको देने वाला नही हूँ। या तो अह—गर्व रखिये, या धर्म रखिये। धर्म रखकर आप अपने लिए नही रह जाते, सब के लिए हो जाते है। उसके लिए अन्दर की वासनाओ को, स्वार्थ-ईर्षा को, मताग्रहो को, गिरोहबन्दी को सब को छोड़ देना होगा। लेकिन छोड़ने से आप घाटे में न रहेंगे, क्योकि छोड़कर वह वस्तु आपको मिलेगी, जिसकी कीमत अकूत है। वह है आपकी 'आत्मा' अपने को खोकर सारे जगत का राज पाया तो क्या पाया? क्योंकि तब वह धूल बराबर भी नहीं है।[1]

१. भाषण पर्यूषण व्याख्यानमाला, कलकत्ता।

: ११ :

युद्ध

जीवनकर्म क्या है ? सोचता हूँ तो एक ही उत्तर मिलता है : युद्ध। जीवन युद्ध है।

युद्ध से घबराना जीवन से बचना है। वे शान्तिवादी जो युद्ध से किनारा रखने की सीख देते हैं और युद्ध से ही युद्ध करने आगे नही आते, वे शान्ति के वादी ही है, उसका मूल्य चुकाना नही चाहते। शान्ति के वे तत्पर आचरणी नही है, उसके सिपाही नही है। अर्थात्, वे शान्ति ला नहीं सकते। वे अशान्ति से डरते है और उससे लड़ नही सकते। शान्ति न-कार नही है। जो अशांति का चुनौती नही दे सकती, वह कैसी शान्ति ? शाति दास नही योद्धा चाहती है। और वह शाति का चोर है जो युद्ध से आँख चुराता है। घर मे अपने को बन्द कर कोई शाति-सेवी नही हो सकता। बाहर द्वेष की आग है, इसलिए अपने ऊपर किवाड़ बन्द कर जो भीतर विरागी बन बैठता है, वह विरागी नही है, कायर है। इसी तरह जो चारो तरफ जलती हुई कलह की आग से, शान्ति की ओट और शान्ति के सपने ओढ कर, और उनमें बन्द होकर अपने को बचाता है, वह अपने को धोखा देता है। शान्ति अपने सेवक से बात नही, काम चाहती है। वह उत्सर्ग चाहती है। जो आराम नही तज सकता, एडीटरी और लेखकी की सुरक्षित आलोचना छोड़ कर घमासान में नही आ सकता, वह शाति को भी कैसा चाहता है ? वह तो अपने तन की ही रक्षा चाहता मालूम होता है। लेकिन शान्ति

उसी को पहचानेगी जो अशांति की ललकार लेगा, उससे मोरचा लेगा। जो योद्धा नहीं, वह सेवक नहीं। वह प्रेम का अधिकारी भी नहीं। प्रेम का रास्ता खतरे का रास्ता है। प्रेमी योद्धा तो है ही। उस योद्धा से सब-कुछ माँग लिया जायगा और बदले में आश्वासन भी उसे नहीं दिया जायगा। उसका सहारा होगा बस प्रेम। इधर-उधर और कुछ नहीं। उतने ही को सँजोए रखकर बिना किसी प्रत्याशा के वह अपना तन मन दे सके तो ठीक है। ऐसा नहीं तो वह प्रेमी नहीं। और शांति भी अपने प्रेमी से यह सब उत्सर्ग माँग लेगी। जो अशांति से लडने मे अपनी जान तक खोने को तैयार नहीं है, वह शांति के समर्थको मे नहीं गिना जायगा।

इससे जीवन को जो आराम मानते हैं, वे जीवन को नहीं जानते। वे जीवन का स्वाद नहीं पाएँगे। जीवन युद्ध है, आराम नहीं। और अगर आराम है तो वह उसी को प्राप्य है जो उस युद्ध में पीछे कुछ न छोड अपने पूरे अस्तित्वसे उसमें जूझ पडता है। जो सपने लेते हैं वे सपने लेते रहेंगे। वे आराम नहीं आराम के खयाल मे ही भरमाए रहते हैं। पर जो सदानद है, वह क्या सपने से मिलता है? आदमी सोकर सपने लेता है। पर जो जागेगा वह पाएगा। सोने का पाना झूठा पाना है। सपना सपने से बाहर खो जाता है। असल उपलब्धि वहाँ नहीं। इससे मिलेगा वही जो कीमत देकर लिया जायगा। जो आनंद रूप है, वह जानने से जान लिया नहीं जायगा। उसे तो दु:ख पर दु:ख उठा कर उपलब्ध करना होगा। इसलिए लिखने-पढने और मनन करने से उसकी स्तुति अर्चना ही की जा सकती है, उपलब्धि नहीं की जा सकती। उपलब्धि तो उसे होगी जो जीवन के प्रत्येक क्षण योद्धा है, जो अपने को बचाता नहीं है, और बस अपने इष्ट को ही जानता है; कहो कि जो उसके लिए अपने को भी नहीं रखता है।

पर कैसा योद्धा? हाथ में कटार ली और चार छ: के गले काट दिए, ऐसे आदमी भी योद्धा कहलाते हैं। इतिहास अधिकतर ऐसों को ही जानता है। शूरता और वीरता के नाम पर एकाएक वैसी ही

सामने उठती है। और आज तो वह भी नही। आज तो बिना देखे और दीखे गोले बरसाए जाते है और तोप बंदूक चलाई जा सकती है। आधुनिक वीरता कुछ ऐसी ही चीज है। लेकिन इस वीरता में भय भी मिलो हुआ नही है, यह मैं नही कह सकूँगा। दुश्मन का डर अंदर ही अंदर मन को दबोचे रहता है। और उस अदरूनी भय का सामना करने के लिए एक बना हुआ साहस, जिसमे नशा रहता है, हठात् पैदा कर लिया जाता है। वह नशा तलवार चलवाता है, और गोले फिकवाता है। ऐसा व्यक्ति खुद आतंकित होता है और आतक उपजाने को ही जीत जानता है। वैसे अमानुषीय साहस को ऊपर से देखने वाले शूरता और वीरता कह देते है। दुबक रहने वाले कायर के मुकाबले तो वे भी वीर है ही। पर क्या शब्द के पूरे अर्थ में उन्हे योद्धा कहा जा सकता है? नशा उतर जाने पर क्या वह दयनीय ही नही दीख आएगे? ऐसी लड़ाई लडने वाले नित्य के जीवन मे बात बात पर अपमानित होते और आत्मा बेचते है। बारह-पद्रह रुपए का सिपाही जो लडाई मे अजब विक्रम दिखाता है, लड़ाई के अभाव में क्या वह काहिल, झगड़ालू, डरपोक और पालतू ही नही दीखता? क्या उसका पराक्रम सच्चा होता है? क्या उसके मूल में एक नशा ही नहीं होता?

जो मारता है उसको कोई योद्धा कहे, तो मै उसे बहस का मौक़ा न दूँगा। हरेक को हक़ है कि जहां से उसे स्फूर्ति मिले वहां से ले। जिसमें चाहे, उसी में श्रद्धा रखे। बहस इसमें बेकार है। लेकिन अगर विवेक भी कोई चीज है तो मै कहना चाहता हूं कि जो बिना मारे युद्ध मे डटा रहता है जो अपने को दुश्मन मानने वाले को मित्र मानता है और उसकी दुश्मनी को अपनी अखंड मैत्री से झेलता है, वह प्रवीणतर योद्धा है। प्रवीणतर, और अधिक साहसी, और अधिक विवेकी और अधिक बलवान।

लेकिन करना कहने-सा सीधा नही है। जो हमारे खून का प्यासा है उसमें से खून की प्यास निकल जाय और उसमे स्नेह की प्यास पैदा

हो आए, यह काम खेल नही है। यह दुस्तर से दुस्तर है और इसके लिए अविराम और दुर्द्धर्ष युद्ध की योग्यता वाले योद्धा की जरूरत है। इतिहास के युग-युग और देश-देश में बहुतेरे लोग स्पर्द्धापूर्वक बढकर इस मोरचे को लेने पहुचे; लेकिन विरले वहाँ ठहर सके। असंख्य बीच में टूट गये और दुश्मन के हाथों खेत रहे। इस युद्ध में दुश्मन की उसी क्षण विजय हो जाती है जिस क्षण कि योद्धा में दुश्मनी का ख्याल भी आ जाता है। मैं मानता हू कि जिसने यह युद्ध जीता, उसे फिर जीतने को कुछ भी बाकी नहीं रह गया। और जीवन में कर्म शेष है तो इसीलिए कि इस युद्ध में अभी विजय पाना हमारे लिए शेष है। इसके अतिरिक्त और कुछ करना धरना नही रह जाता।

लेकिन शब्दों को लेकर हम भाग न छूटें, और न उड़ें। न समझ लिया जाय कि व्यक्ति अंतिम सत्ता है और उसकी अपने में अलग कोई मुक्ति हो सकती है। मरता आदमी अपने से है, जीता साथ-साथ है। मौत को छोड कही वह अकेला नही है। सो मुक्ति अगर है तो सबकी साथ है। इससे ऊपर व्यक्तिगत आदर्श की स्थापना नही की गई है। व्यक्तिगत भाषा का प्रयोग हा अवश्य है। व्यक्ति इकाई है और जो चेतना मानवतल पर हमें प्राप्त है, उसमें इस इकाई के आधार से छुट्टी तो पूरी तरह है ही नही, इस मर्यादा को किसी वाद में कृपया हम न भूलें।

युद्ध की परिभाषा में ही जीवन का देखना क्यो जरूरी है, उसका कारण है।

उस कारण को तात्त्विक रूपमें तो यों कहिए कि दो एक तबतक नही हो सकते, जबतक वे अपने दो-पन को, यानी अपने ही भीतर के और आपस के द्वित्व को जीत नही लेते। हरेक को अपना अपनापन ही सिद्ध है। लेकिन वह अपनापन हरेक की मर्यादा भी है। गति का अर्थ विस्तार है। विस्तार में अपनी ही मर्यादाओं के प्रति असतोष और युद्ध गर्भित है। जहां ऐसा असंतोष और युद्ध नही, वहा जीवन भी फिर नही है। वहां प्रगति, उन्नति, विस्तार, सबके द्वार बद है। जीवन का लक्षण है

विस्तृति की निरतर चेष्टा, निरतर गति। गति की संभावना मे विरोध और युद्ध आ ही जाता है।

इसी तात्विक बात को व्यवहार के तल पर प्रत्यक्ष बनाकर हम समझ सकते हैं। जिसके पास निषेध के लिए कोई आधार नही रह गया है, सब गलत मानो उसके लिए सही भी है और सब सही गलत; जिसमें पृथक्करण की विवेक शक्ति नही रह गई है; जो समन्वय में अन्वय की शक्ति खो बैठा है; जो किसी का वर्जन और किसी (बात) का साग्रह स्वीकार नही कर सकता, ऐसा व्यक्ति एकदम निष्क्रिय और जडवत् रहता है। वह सूखकर बेकाम हो जाता है।

और 'धर्म' मे इस तरह का खतरा खूब है। धर्म की आधार रूप है वह चेतना जो खड मे अखंड के लिए बीजभूत है। इससे धर्म का मूल है बिछोह का त्रास और ऐक्य की प्यास। जीवन एक है। जो अखिल है वह ईश्वर। वही है और मै वह हूं : 'सोऽहं'—धर्म का मूल इस अनुभूति को आत्मसात् करने की अमर प्यास है।

लेकिन इस अमूल्य अनुभूति के साथ खेल नही हो पायगा। इस बारे में अतिशय ईमानदारी भी कम हो सकती है। ज़रा मोह इस जगह आदमी को नरक में डाल देगा, स्फूर्ति की जगह उसमें जडता ला देगा। यह अनुभूति सुलभ होती तो बात ही क्या थी। इसलिए इन (और ऐसे) शब्दों के साथ अत्यन्त सतर्क और सावधान होकर बरतना चाहिए। यहां शब्द शब्द नहीं रहते, आग हो जाते है। वे जला दे सकते है। और जिसके लिए वह शब्द शब्द ही रह रहे है, फिर भी जो उनका व्यवहार करता है, वह कोरा व्यापार रचता है। वह पाखंडी है। उन शब्दों के साथ अत्यन्त विनम्र रहना होगा। 'सोऽहं' पद मान भर लेने के लिए नहीं है। वह तो साधना का इष्ट है। उसमें तो आशय है कि मुझे वह (यानी, उसके जैसा और निकट) प्रतिक्षण होते रहना चाहिए। अगर 'सोऽहं' भाव मेरे ऊपर सवार हो जाता है, साधना का मंत्र नहीं बल्कि एक व्यामोह बन जाता है, तो उससे जबरदस्त अनर्थ होकर ही

रहता है। ऐसे व्यक्ति में गति बन्द हो जाती है और जीवन मूच्छित हो जाता है। और मूढ़जन उसके उदाहरण से और भी मतिमूढ़ बनते है।

ईश्वर और सत्य की खोज मे निकल पड़े हुए अनगिन व्यक्तियो के साथ, अथवा उनके उपलक्ष से, ऐसी ही दुर्घटना घटित हुई है। ईश्वर की सर्वव्यापकता को आत्मा के भीतर क्रमश उत्तरोत्तर उपलब्ध न करके उन्होने हठात् सर्व को एकाकार देखने के आग्रह मे कर्म-अकर्म के अतर को ही अपनी विवेक शक्ति में से लुप्त कर लिया है । ऐसे लोग कठोर तपसी हो गये है। जग उन पर विस्मित होता हो, लेकिन असल मे तो ऐसे विमूढता ही हाथ लगती है । ऐसे लोगो ने उस राह स्वय चैतन्य का लाभ कर पाया, अथवा चैतन्य प्रदान किया, इसमे मुझे भारी सन्देह है।

उन्होने जीवन सबधी अपनी धारणाओ मे युद्ध-तत्व के लिए अवकाश नही छोड़ा। उन्होने हठात् चाहा कि वे ऐक्य प्राप्त करे; लेकिन अनैक्य को, जो उनके भीतर था, उन्होंने ललकार नही दी। उससे युद्ध नही किया; बल्कि उसे पुष्ट किया। सूफी और वेदाती कवि लोग ऐक्य के ऐसे स्वप्न में खो गये कि उस स्वप्न को तत्पर आचरण द्वारा सत्य करने की आवश्यकता की सुधि उन्हे न रही। परिणामतः उनका जीवन, निर्दोष तो वह रहा भी होगा, पर वेगवान और सशक्त नही हुआ। पराक्रम उनमे नही दीखा। समाज ने कोई स्फूर्ति और प्रेरणा उनसे नही पाई। उनकी जीवन नीति मे युद्ध-तत्व की कमी रह गई।

बुराई है, अनीति है—उसका अस्वीकार करने के लिए ही हम हो सकते है। अस्वीकार करना, यानी जिसको बुराई और अनीति माना है उसके आगे कभी न झुकना, यह हमारी स्थिति का आधार है। अगर हमारे लिए बुराई कुछ नही रह गई है और बुरा कुछ नही रह गया है, तो हमारे होनेकी आवश्यकता ही नही रहती। यह अवस्था तो व्यक्ति की नही आदर्श की है। परमात्मा की यह स्थिति है। उस आदर्शलोक मे तो असत् को भी सत् और पाप को भी धर्म ही थाम रहा है, यह अस-

दिग्ध है। पर वह कैसे थाम रहा है ? पाप में धर्म और असत् में सत् कैसे व्यापा हुआ है?—इसका जवाब पा लेना मानव नहीं रहना है,ईश्वर बन जाना है। इस प्रश्न का हठात् उत्तर देने का उत्साह धृष्टता है और बुद्धि का विकार है। वह भयंकर है। वह प्रश्न सदा के लिए प्रश्न है। जब तक काल है, तब तक वह है । किसी उत्तर से उसका मुंह बन्द नही हो सकता । जीभ से उसका उत्तर दे डालना, अथवा बुद्धि द्वारा समाधान पा लिया जैसा अपने को समझ लेना, अनर्थकारी है । मोक्ष मे सच्चा उत्तर और सच्चा समाधान है और मोक्ष से पहले कही वह उत्तर भी नही है।

जब तक व्यक्ति है तब तक उसके लिए असत् रूप कुछ न कुछ है। इसलिए सत्रूप धर्म व्यक्ति के लिए हमेशा युद्धमय होता है । असत् से युद्ध, पाप से युद्ध, अधकार से युद्ध, अनात्म से युद्ध।

युद्ध इसलिए धर्म है कि हम अपूर्ण है । और इसलिए धर्म है कि सम्पूर्ण हमें होना है। जो युद्ध से बचा, वह या तो मोहयुक्त है और अपनी अपूर्णताओं से असन्तुष्ट नही है, या इतना जड़ है कि सम्पूर्णता की अभिलाषा उसमें नही है।

इसलिए बड़े से बड़े के लिए अनन्त काल तक प्रार्थना का अवकाश है और यह आग्रह खतरे से भरा है कि मै वह हूं, क्योंकि वह मैं हूँ; और क्योंकि वह ईश्वर सब कुछ है, इससे मै सब कुछ हूं। इस तरह व्यक्ति युद्धधर्म से च्युत होता है। वह मानव-विलक्षण भले हो जाय, मानवोत्तम नही हो सकता।

किन्तु युद्ध धर्म है तो तभी जब वह धर्मयुद्ध हो, अर्थात् वह प्रेम से लड़ा जाय। जो प्रेम से नही लड़ा जाता, वह युद्ध खरा नही है और शाश्वत भी वह नही है। उससे थकान चढती है और अवसाद हो आता है। अप्रेम वाले युद्ध के लिए नशे वाला उत्साह चाहिए। नशा उतर जाने पर उससे अरुचि होने लगती है। वैसे युद्ध में विवेक नही निभता और उसमे लडने वाले का अन्तःकरण, चाहे नशा कितना ही तीव्र हो,

भीतर ही भीतर उसे कचोटता रहता है। इसलिए खूनी युद्ध का योद्धा पूरा निर्भय नही हो सकता। वह औरो की जान लेने के बारे क्रूर हो सकता है, पर अपनी और अपनो की जान जाते वक्त वह घबराए बिना नही रह सकता। अपनी और अपने पुत्र कलत्र की मौत को अडिग भाव से सहने की सामर्थ्य उसमे नही होती। ऐसे वक्त वह हिल ही आता है। जरूर कोई मौका आता है जब नशे पर टिकने वाला उसका युद्धोत्साह टूट कर धूल में मिल जाता है और उस समय वह बेहद दयनीय हो आता है। बडे-बडे शूरवीर समझे जाने वालो की जीवनी मे इस सचाई के प्रमाण मिलते ह। मारने की शक्ति में बढा चढा हुआ योद्धा, एक जगह आकर सब सुध बुध बिसार रहता है और अपनी मौत के आमन-सामनें होकर उसका योद्धापन नही टिक पाता। ऊपर की अकड चाहे तब भी बाकी रहे; लेकिन भीतर से वह कातर बन आता है।

परतु जो युद्ध को धर्मयुद्ध बना कर उसमे जूझता है, जो बुराई से इस निमित्त लड़ता है कि बुरे समझे जाने वाले को मन से प्रेम करता है, ऐसा योद्धा हार कर भी नही हारता, और जीत कर भी नही फूलता। मौत उसके लिए हिसाब की चीज ही नही है। जैसा जीना वैसा मरना। वह जीवन के लिए मौत स्वीकार करता है और मौत को अत नही मानता। वह दूसरे के हित में अपने को इतना अर्पित कर देना चाहता है कि अलग होकर स्वय कुछ रहे ही नही। उसका युद्ध कभी नही चुकता और थकने की, या हटने की, या रुकने की उसे पल की भी छुट्टी नही है। वह पैसे का योद्धा नही, प्रकृति का योद्धा है और सोते जागते हर घड़ी उसकी ड्यूटी है। युद्ध वही असली है जो जाने कब से हो रहा है। समूचा इतिहास उसीका इतिहास है। उसमे विराम नही, अतराल नही। आत्म से अनात्म का वह युद्ध है। प्रत्येक का जीवन मानो उसी का परीक्षण है। जीवन में हरेक की उतनी ही सार्थकता है, जितनी दूर वह उस युद्ध को आगे तक ले जाता है। योद्धा गिरते है, दाए बाए हर

घड़ी वे सांस लेते और छोड़ते जा रहे हैं। लेकिन युद्ध कब रुकता है ? वह चलता ही जाता है।

युद्ध धर्म है और जीवन कुरुक्षेत्र है। वही कुरुक्षेत्र फिर धर्मक्षेत्र है। युद्ध से विहीन धर्म विलास है और धर्म से हीन युद्ध नृशंसता है। युद्ध वाला धर्म और धर्म वाला युद्ध व्यक्ति के साथ शाश्वत भाव से लगा है। जो युद्ध धर्म से अलग हो जाता है, या जो धर्म-युद्ध से जी चुराता है, वे दोनो ही सदोष है। लेकिन जहा दोनो का समुच्चय और समन्वय है, वहा सचाई है और वही जावन की सिद्धि का मार्ग है।

निषेध बहुत आवश्यक है। एकदम ज़रूरी है कि ज़हर को हम ज़हर जाने और न खायँ। अमृत और विष मे अतर है, और उस वक्त तक रहेगा, जब तक कि हम ही व्यक्ति से कुछ और नही हो जाते। भेद मात्र माया है और अभेद ही सत्य है,यह मान कर अमृत और विषमे भेद करने से छुट्टी आज हम नही लेसकते। वह अवस्था जहा विषमें विषपन न रहेगा और जहा अमृत को अमृत समझने की आवश्यकता अशेष हो जायगी, वह ब्रह्मलीना की अवस्था है। कल्पना से सभव हम उसे मान सकते है और साधना की उत्तरोत्तर पूर्णता से उत्तरोत्तर सत्य भी उसे बना सकते है; लेकिन अपने को भूल कर हठात् उसे इसी क्षण हम नही अपना सकते। ऐसा करना जान खोना है।

और ऐसा किया जाता है। चेतन हो कर मानो आयास पूर्वक लोग है जो जड बनते जाते है। जगत मिथ्या है, वास्तव सब माया है—यह कह कर उस वास्तव जगत के परिबोध से वे अपने को मूंद ले रहे है। इंद्रियो को कुचल रहे है जिससे कि जगत का बोध ही उन्हे न व्यापे ! लेकिन यह अनिष्ट है। इससे जगत नही मिटता। अपनी बोध-शक्ति ही ह्रस्व होकर मिट्टी हो रहती है।

इससे सन्यास कर्म से सन्यास नही है और कर्म मात्र युद्ध है। युद्ध मन में स्फूर्ति भरता है। वह हमको एक लक्ष्य देता है। उससे चैतन्य

उभरता है। रगो मे फड़क पैदा होती है। उसको सामने लेकर शक्ति और विवेक जागता है।

नही तो मन सुस्त हो रहता है। करने योग्य कुछ लगता नही। कल्पना मे विलास मालूम होता है और इस तरह धीमे-धीमे उस कल्पना की भी सृजनशक्ति नष्ट हो जाती है। रस जीवन मे सूखता जाता है। और प्रतीत होता है कि जो है वही होनहार था और जो होनहार है वही होगा। यह कि हम होनहार को स्वय लाने और करने में सक्रिय रूप से सहभागी है, यह चेतना मद हो जाती ह। हम भाग्यवान नही, भाग्याधीन बनते हैं। स्वावंलबन हमसे खोजाता है और भवितव्य पर आस लगाये बैठना शेष रह जाता है। जो भाग्य को सहारा नही देता, उसके सहारे की आस में रहता है, वह निश्चय भाग्यहीन है। भाग्य तो है, असल मे वही है। लेकिन वह हमारा कब नही है? और अगर वह हमारा है तो हमारा उस भाग्य के साथ सबध निष्क्रिय नही हो सकता है। भाग्य इतिहास को बनाता है, या इतिहास ही भाग्य का रेखाचित्र है,या कुछ कह लो,इतिहास युद्ध की कथाओ से भरा पड़ा है। जो भाग्य को मानता है और जानता है, अगर उसका मानना और जानना सच्चा है तो वह व्यक्ति ऐतिहासिक और योद्धा हुए विना कैसे रहेगा? वह वह पुरुष युद्धमय होगा और भाग्यमय होगा। भाग्यमय, यानी मानवीय इतिहास की दृष्टि से भाग्यविधाता।

: १२ :

न्याय

हमारे बीच मे एक संस्था है न्याय। वैधानिक उसका स्वरूप है लॉ–कोर्ट यानी अदालत। यह संस्था मनुष्य-समाज में सन्तुलनको कायम रखती है। अपराध की जाँच-परख करती है और उससे समाज को सुरक्षित रखने की व्यवस्था करती है। उस सस्था की पीठ पर शासन की ओर से पुलिस की शक्ति है और कानून की शक्ति है। जज और वकील उसी सस्था के सेवक-सदस्य है।

यह सस्था शासन-सत्ता (State) की आधार-स्तम्भ है। फिर भी मानो उस सस्था को शासन (Executive) से कुछ अछूता और ऊपर रखा जाता है। कहा जाता है कि न्याय के आगे सब मनुष्य समान है। राजा की भी वहाँ वही हैसियत है जो प्रजा का हैसियत है। कानून के आगे ऊँच-नीच का भेद नही है।

पर चूँकि सिद्धान्त अपने आप काम नही करते, मनुष्यो की मारफत व्यवहार मे लाए जाते है, कानून के पक्ष का यह दावा असली अर्थ मे कभी पूरा नहीं होता। इसलिए न्याय की वैधानिक सस्था सम्पूर्ण और शुद्ध न्याय नही करती; बल्कि मुख्य शासन का समर्थक न्याय करती है। शुद्ध न्याय तो अपने से बाहर किसीका समर्थक है नही। वह धम का अङ्ग है।

इसलिए देखने म आता है कि मनुष्य जाति के वैधानिक न्याय का समय-समय पर बदलना पड़ा है और उसमें ऐसे लोगों को अपनी जाने

दे-देनी पड़ी है जिनको इतिहास ने पीछे जाकर मनुष्य जाति का उपकर्ता और आदर्श पुरुष माना है।

अर्थात् वैधानिक कानून के ऊपर भी कोई क़ानून है जिसकी ओर वैधानिक कानून को बढते रहना होता है और उस ऊपर वाले क़ानून के आदेश पर वैधानिक कानून की अवज्ञा तक हो सकेगी।

इसी बात को समझ कर देखें। देखें कि न्याय कैसे सम्पादित होता है।

एक मित्र जज हैं। मैंने उनसे पूछा कि आप अपराधी को सज़ा देते वक़्त यह फैसला कैसे करते है कि अमुक को छः महीने की जेल न दे कर एक साल की या तीन महीने की जेल देनी चाहिए?

उनका उत्तर था कि इधर आकर तो वह छः महीने या तीन या बारह महीनो की जेल को अपने मन मे कुछ तौलने की ज़रूरत नही पाते है। शुरू में ज़रूर चित्त इस बारे मे सावधान रहता था। ऐसा मालूम होता था कि सज़ा देकर मन पर कुछ बोझ ले लेना होता है। उस वक्त तीन और छः महीने में सचमुच दुगने का फर्क मालूम होता था लेकिन अब तो एक आदत है और मन उस पर ठहरता ही नही। सिर्फ सूझ की बात है। तीन सूझ गये तो तीन महीने, छः सूझ गये तो छः महीने। काम इतना रहता है कि हम किसी एक केस पर रुक नही सकते भाई।

मैंने कहा कि कैदीके दिन जजके दिनो जैसे नही होते। कैदी के एक दिन में वज़न होता है। जज के दिन इतने हलके हो सकते है कि बेहद। मै कैदी रह चुका हूँ, इसलिए कहता हूँ। जेल से बाहर की जजी मे उन दिनो के भार का अनुमान नही हो सकेगा।

जज बोले कि हाँ, यह सही हो सकता है। लेकिन न्याय करते समय हमें वह सब ख्याल रहने का मौका नही है।

मैंने कहा कि क्या अभियुक्त की इन्सानी हैसियत का उस वक़्त आपको ध्यान रहता है? उसके बाल है, बच्चे है, सुख-दुःख मानने

वाला मन है, परिवार है। ठीक जैसे हम-आप इन्सान है, वैसे ही वह है-यह ध्यान आपको रहता है ?

उन्होंने कहा कि इधर आकर तो बिल्कुल उस तरह का ख्याल नही आता। बल्कि अभियुक्त होकर व्यक्ति व्यक्ति रहता ही नही। वह एक अदद, मानो एक अङ्क हो जाता है।

मैंने कहा कि फिर तो वह न्याय नही हुआ।

उन्होंने कहा कि जो हो, अदालत वाला न्याय उससे ऊँचा नही है। और दैवी न्याय की बात करने से यहाँ दुनिया मे फ़ायदा क्या है ?

मैंने सुझाया कि अभियुक्त बन कर मै आपकी अदालत में पहुँचूं तो क्या मेरी इन्सानी हैसियत किसी तरह भी आपके मनमे हिसाब के हिन्दसे जैसा शून्य हो सकती है ? आपकी स्त्री मेरी स्त्री को जानती है; बच्चे साथ रहे है, हममें दोस्ती है। मै तो आपके लिए एक अङ्क जैसा नही हो सकता न ? इससे क्या यह ठीक है कि अदालत के आगे सब अभियुक्त समान है ?

मित्र बोले कि कानून मे सब समान है। लेकिन मनुष्य तो मनुष्य है।

खैर, उस समय से मै जानता हूँ कि कानून और न्याय के आगे सब मनुष्य एक समान नही है। जज की बराबरी की हैसियत का आदमी जज के मन मे जो हमदर्दी पैदा करेगा, निम्न वर्ग के लिए जज मे वह सहानुभूति न होगी। समाज के एक विशेष वर्ग के लिए जज मे अपनेपन का भाव रहता है। उस वर्ग के अभियुक्त के लिए उसके मन मे सवेदन है। उससे नीचे वाले वर्गो के आदमियों को वह आदमी तक माने बिना अङ्कों के समान उनका निबटारा कर सकता है। विधान एक मशीन है। उसका मॉग है कि जज दिन मे बीस या पचीस या इतने केस निबटा दे। सो गिनती की तरह वह उन्हे पूरा करता है। पर क्या इस विधि से न्याय पूरा होता है ?

पर जो हो, इस प्रकार के न्याय से भी समाज को चलने मे सुविधा होती है। ऐसे व्यवस्था तो रहनी है। नही तो बन्ध टूट जाएँ और काम

फिर कोई हो भी तो न सके। आखिर न्याय को भी दुनियावी हिसाब निबाहना होगा। एक साल मे इतने हजार केस है और इतने दर्जन जज है, तो हिसाब से मालूम हो सकता है कि हर जज पीछे एक दिनमें कितने का औसत पडा। जज इतना काम पूरा न करे तो दुनिया का हिसाब उलझ जायगा कि नही ?

इन्साफ की जो अदालते बैठी हुई है, बेशक उनका काम रुक जाना तो इष्ट नही है। लेकिन मुझे कहना है कि यह देखते रहना बहुत आवश्यक है कि उनसे अधिकाधिक न्याय मिलता है, खानापूरी ही नही होती। तदनुकूल उस सस्था का भङ्ग नही, पर विकास तो चाहिये।

और विकास की दिशा यह है कि मुजरिम और मुसिफ दोनो में सामाजिक हैसियत की विषमता न समझी जाय, न रहने दी जाय। उनमें समकक्षता हो। उससे आगे, भरसक, दोनो परस्पर निकट-परिचित हों बल्कि भाई-भाई सरीखे हो।

जहाँ जज की कुर्सी पर बैठा हुआ व्यक्ति परिस्थितियो के कारण लगभग बाध्य हो कि वह अभियुक्त के कठघरे मे खड़े हुए आदमीको बिल्कुल जान और समझ न सके; जहाँ उन दोनोके बीच ऐसी गहरी सामाजिक विषमता की खाई खुदी हो अथवा कि जहाँ न्याय की संस्था को इतना अधिक केन्द्रित बना दिया गया हो, वहाँ न्याय के न्याय रहने की सम्भावना कम होती जाती है। यहाँ तक कि ऐसी हालत मे अदालत सरकार का अङ्ग ही हो जाती है, उस पर वह अकुश की तरह बिल्कुल काम नही करती। यह न्याय और शासन दोनो का अपमान है।

न्याय के न्याय होनेके लिए आवश्यक है कि वातावरण मे सहानुभूति हो और भाई-चारा हो। वर्ग-वर्ग के बीच आर्थिक-विभाजनकी, रहन-सहन की और रीति-नीति की समता हो। जज जिस समाज का है, अभियुक्त उसी समाज का अङ्ग हो। अर्थात् न्याय के लिए समाजिक परिस्थिति ऐसी हो कि अभियुक्त के प्रति जज मे सवेदन-शून्यता की सम्भावना कम से कम हो। मनुष्य पदार्थ नही है और जब पदार्थ की तरह उससे

व्यवहार किया जायगा, तब मनुष्यता नही बढेगी और सुव्यवस्था का बढ़ना भी भ्रम होगा।

इस लिहाज से वैधानिक क़ानून की धाराओ की गिनती और मुटापा बढने से न्याय की जटिलता तो बढती हो, और चाहे उसकी महिमा भी बढने सरीखी मालूम हो, पर इससे उसकी उत्तमता नही बढती। वह ऐसे दुर्लभ होता है। और जिसमे भीतर सवेदन नही है, वह न्याय होकर भी न्याय नही है।

अभियुक्त की जगह जो प्राणी खड़ा है, उसके नित्य-नैमित्तिक सामाजिक जीवनकी परिस्थिति को अनुभव द्वारा समझे बिना उसके सम्बन्ध में कोई न्याय कैसे किया जा सकता है, मेरी समझ मे नही आता।

उसी तरह यह भी आवश्यक है कि जज जिस जेल मे अभियुक्त को भेजता है, अनुभव द्वारा वह वहाँ के कैदी के जीवन को जानता हो। उस जीवन को बिना जाने जो जेल की सज़ा दी जाती है, वह अपराधी की अपराध वृत्ति को कम नही कर सकती। बल्कि, जैसा देखा जाता है, उसकी जडों को मजबूत ही करती है। जेलसे निकलकर जो और भी पक्का अपराधी नहीं बनता, वह नही बनता तो सिर्फ डर के मारे। भीतर से तो उसके सदाके लिये ही अपराधी ही रहने की सम्भावना बढ जाती है। और जो केवल भय के कारण अपराध- कर्म से रुका रहता है, उसमे नागरिकता का विकास नही हो सकता। वह हमेशा के लिये खतरा है। नागरिकता का अर्थ है स्वेच्छापूर्वक पड़ौसी के प्रति अपना कर्त्तव्य-पालन। वह न्याय जो व्यक्ति मे उस कर्त्तव्य की सम्भावना को नही बढ़ाता, केवल रोक-थाम करके अपराधो की गिनती को बचाता है, वह न्याय नही है। वह तो पुलिस के हाथ मानवता को सौप देना है। जज को पुलिस-इन्सपेक्टर का काम करके सन्तुष्ट नही होना चाहिये। अपराधोन्मुख को अगर न्याय-दण्ड द्वारा सिर्फ़ जैसे-तैसे अपराध-कर्म से वंचित रखा जाता है, उसकी अपराध-वृत्ति के ही शमन करनेका भी उससे कुछ उपाय नही होता, तो कहना चाहिये कि उस न्याय से न्याय की अर्थ-सिद्धि तो किञ्चित्

नही होती, उससे केवल पुलिस-कर्म होकर रह जाता है ।

न्याय की सस्था दण्ड देकर अपने कर्त्तव्य से उऋण नही हो जाती । बल्कि दण्ड की सम्भावना को उसे कम करने मे प्रयत्नशील होना चाहिये । न्याय की सस्था की सफलता इसमें जाँची जा सकती है कि उसका काम घट रहा है या बढ रहा है । जितनी अपराध-वृत्ति घटती है न्याय को उतना ही सफल मानना चाहिये । जेलखाने अन्याय के सूचक है । मगर अपराध एक सामाजिक रोग है तो जेलखाने अस्पताल की भाँति होने चाहिये और कैदी को रोगियो की-सी सुश्रूषा और सहानुभूति मिलनी चाहिये ।

इस भाँति न्याय मानवीय सहानुभूति के ही वातावरण मे मिल सकता है। आदमी और आदमी के बीच कानूनकी जटिलता की जितनी कम दूरी हो, न्याय के लिये उतना भला है । तब सहानुभूति उतनी ही कम दुर्गम होगी । कानून की किताबों की तह-की-तह मानो बीच मे खड़ी हो कर व्यक्ति रूप से जज को और अभियुक्त को अलग-अलग दो कक्षाओ में डाल देती हैं । फैसला तब कानूनी होता है और हार्दिकता उसम कम रह जाती है । इ स प्रकार न्याय की मशीन तो झटपट और तेज़ी से चल सकती है, लेकिन मानव जातिमे कोई समुन्नति नही हो सकती ।

लेकिन उसके विरोधमें उन जज मित्र ने अपने एक अनुभवका हवाला दिया । कहने लगे कि आपके मतलब का न्याय शायद पञ्चायती न्याय है। पञ्चायत मे सब एक दूसरे को जानते है । फिर भी पञ्च की हैसियत से वे लोग कुछ अपने से ही ऊँचे उठ जाते होंगे, ऐसी प्रतीति रखी जाती है । पञ्चों का वादी-प्रतिवादी दोनो पक्षो के साथ भाई-चारा होता है । इस प्रकार उचित न्याय की अधिक आशा है, यही आपका आशय है न ? लेकिन पञ्चायत का प्रयोग किया गया है और बिल्कुल असफल हुआ है । सरकार ने पञ्चायत के पीछे अपना काननी सरक्षण तक दिया । पञ्चायत के फैसले की अपील नही थी और उसका पालन अनिवार्य बना दिया गया था लेकिन पञ्चायत पर स्थानीय लोगो का विश्वास जम

ही नहीं सका। गाव के लोग अपने मे से किसीको चुन कर मुखिया नहीं बना सकते। वे अपने ऊपर बना-बनाया एक अफसर चाहते हैं। यह तो हालत है भाई। इससे उस प्रयोग को अब छोडना पड़ रहा है।

इस सिलसिले मे उन्होंने एक प्रसिद्ध पुरुष का नाम लिया। इन व्यक्ति की प्रामाणिकता सन्देह से परे थी। उनका जीवन निःस्वार्थता का जीवन था। लेकिन अपने हल्के की पंचायत के सरपंच की हैसियत से लोग उनका विश्वास करने के लिए तैयार न थे। जज मित्र ने बताया कि वह एक बार दौरे पर गये। वहाँ उनके साामने मामला पेश हुआ और स्थानीय पंचायत के सब पच आये। फाइलों के काग़ज़ों मे जब हमारे जज मित्र ने सरपंच का नाम देखा तो संभ्रम में रह गये। क्या यही व्यक्ति वह प्रसिद्ध आचार्य है, जिनके उदार चरित्र की छाप बचपन से उनके मन पर अंकित है? लेकिन देखा गया कि उन आचार्य की असदिग्ध प्रामाणिकता और सात्विक सादगी मामले के निबटारे में कुछ काम नही आरही है। उन (सरपच) का फैसला लोगों को मान्य नही होता है। और वादी-प्रतिवादियों मे से एक दल उन पर सङ्गीन आरोप तक लगाता है।

खैर, उस मामले को न कुछ देर में हमारे जज मित्र ने रफा-दफा कर दिया। बात ज़रा-सी थी और ज़रा में हल हो गई। वादी-प्रतिवादी दोनों को उन जज का न्याय मान्य हुआ।

"अब" उन जज-मित्र ने कहा, "मुझ मे आचार्यजी के मुकाबिले में कुछ भी तो निःस्वार्थता नही है। व्यक्तिगत हैसियत से मैं उनसे कही हीन हूँ। पर मै मामले को सुलझा सका, आचार्यजी कुछ नहीं कर सके। सो क्यों? कारण एक तो यह कि मैं उन गाँव वालों के निकट बिल्कुल परिचित नहीं था। व्यक्तिगत हैसियत से मै उनसे एक दम अलग था और वह मुझ से दूर थे, इससे मेरी तटस्थता में उनको संदेह नही था। जब कि आचार्यजी उनके पास के होकर अपने सम्बन्ध में उतनी तटस्थता का आश्वासन गाँव वालो को नही पहुँचा सकते थे।

दूसरा कारण शायद यह कि मै अफसर था, जब कि आचार्यजी उन्हीं मे के एक थे। इसलिए न्याय को जैसा हार्दिक वातावरण देकर आप सुगम बनाना चाहते हैं, उस तरह वह दुर्गम बनता है। न्याय की एक वैधानिक और केन्द्रित सस्था होने से वह सशक्त बनता है। न्याय में तटस्थता चाहिये और न्यायाधीश स्थानीय परिस्थिति से ऊचा और विशिष्ट हो तभी तटस्थता रह सकती है। कानून की सस्थाओ से पेचीदगी बढ जाती है; लेकिन न्याय मे तटस्थता सुरक्षित रहती है। न्याय में भावुकता को अवकाश नही है।"

जज-मित्र की बात को एकाएक काटना मुश्किल है। यह बेशक आज की एक सचाई है। 'घर का जोगी जोगना' रह जाता है, 'आन गाव का सिद्ध' समझा जाता है। दूरी पैदा होने से मोह सम्भव होता है, पास होने से वह मोह कट जाता है। और मोह मे प्रभाव है। आदमी आदमी में मोह के कारण ही भेद मानना सम्भव होता है। राजा हम से बहुत दूर है। हम दोनों मे अन्तर डालने के लिए न जाने कितनी विभूति बीच मे मौजूद है। हम कच्चे घर मे रहते है और राजा जिस महल में रहता है, उसकी जाने कितनी ड्योढियाँ है, कितने परकोटे है। उसका दर्शन दुर्लभ है, ऐसा है तभी तो राजा का राजापन कायम है। यह कृत्रिम दूरी बीच में न हो तो राजत्वका प्रभाव भी क्या शेष रह जाय ? इसलिए जिसको केवल उसकी महिमा से जानते है, उस दूर के राजा का तो हम पर असर हो सकता है। पर जो पडौस में रहता है, हर घड़ी और हर काम में जिसका साथ हमें सुलभ है, उसका प्रभाव हम पर किस तरह कायम रह सकता है ?

इसलिए अगर न्याय सम्भव बनाना है तो अभियुक्त और जज मे अन्तर डालने के लिए एक कृत्रिम सस्था की आवश्यकता है। नही तो, दबाव नष्ट हो जायगा और अभियुक्त खुद जज होने का दावा कर सकेगा।

मझको प्रतीत होता है कि इस ऊपर के तर्क मे बल है अवश्य।

लेकिन यह तर्क स्थिति का तर्क है। प्रगति का सत्य इसमें नही है।

क्या वर्तमान ही अन्त है? कायम रहना भर ही सब कुछ है? या कि भविष्य का भी सत्ता है? और उसकी ओर सचेष्ट होकर हमें चलना है कि नही? क्या मानव अचल है? या फिर वह विकास-शील है तो उसकी सस्थाएँ भी स्थिति के तर्क से घिर कर नही रह सकती। उन्हे गति के तत्व को अपनाना होगा। इसलिये हाईकोर्ट की इमारत बहुत ज़बर्दस्त और मजबूत हो, न्याय के लिए यही काफी नही है। बल्कि वह न्याय स्वय विकास-शील हो, यह भी आवश्यक है।

न्याय का विकास दण्ड से क्षमा की ओर है,जैसेकि मनुष्य का विकास क्रूरता से करुणा, शत्रुता से मैत्री और अहंकार से उत्सर्ग की ओर है।

समाज मे स्थिति-भंग न हो, न्याय का लक्ष्य यही आकर नही रुक जाता। उस समाज मे जीवित एकता व्याप्त हो, यह भी न्याय का ही साध्य है। इससे जो न्याय अपना दायित्व तात्कालिक समाज-स्थिति (Status Quo) के प्रति ही मानता है, अर्थात् जो उस वक्त के कानून से घिर जाता है, वह असल अर्थ मे न्याय की माँग पूरी नही कर सकता।

गहराई से देखा जाय तो इस प्रकार के न्याय की सस्था तात्कालिक शासन के शुद्ध समर्थन मे बनती है। वह पक्षगत है। वह सब के प्रति एक-सी हो नही सकती। जो दल या वर्ग शासनारूढ है, सस्थाबद्ध न्याय उस वर्ग के पैरों को छूता है, जब कि और वर्गों के वह सिर पर बैठता है। उसके अन्तरङ्ग में समभाव नही, विषम-भाव होता है। वर्ग हित से वह प्रभावित है। उसकी तटस्थता साधक की तटस्थता नही है, मशीन की तटस्थता है। उसमे अगर व्यक्ति और व्यक्ति मे फर्क नहीं किया जाता तो कवेले मे मशीन की छुरी की धार अपने नीचे पड़े हुए गाय और बकरी के सिरो मे ही कब फर्क करती है?

इसलिए न्याय में कानून के सहारे आसानी से सध सकने वाली तटस्थताा कोई श्रेय वस्तु नही है। वह क्रूरता भी हो सकती है। व्यक्ति

उसमें अड्ड बन जाता है और न्यायकर्त्ता उससे जड़ बनता है। उसमें सहानुभूति मंद होती जाती है, यहां तक कि न्यायाधीश व्यक्ति रहता ही ही नहीं, बस एक मशीन का पुर्जा हो जाता है। वह हृदय से काम नही लेता, स्टेट की बनाई दण्ड-विधान की पोथियो से काम लेता है। व्यक्तिगत रूप से वह बहुत मीठा है, बहुत सज्जन है, और अतिशय धार्मिक है। लेकिन जज होकर वह जड़ है, वह पोथी का बधुआ है और अपनी कुर्सी पर मानो वह अपने हृदय को बाद देकर बैठता है।

"लेकिन," जज-मित्र ने कहा "आप कहते क्या है? हम लोग हृदय की बात सुनें तो कुछ कर नही सकते। ऐसे दुनिया मे काम कैसे चल सकता है?"

मैंने कहा कि हृदय की बात नही सुनकर आखिर आप किस की बात सुनना और मानना चाहते है? जो वेतन देता है क्या उसकी?

जज-मित्र मेरी ओर देखते रह गये।

"मुझे इसमे आपत्ति नही" मैंने कहा "आप वेतन-दाता की बात सुनिये। बल्कि वह तो वफ़ादारी है। लेकिन उसकी बात ही न्यायकी बात है, यह मुझे मानने के लिए आप कैसे कह सकते है?"

उनका मत हुआ कि ऐसे दुनिया का काम नही चल सकता

मैंने कहा कि जज कोई न हो तो बेशक दुनिया का काम नही चल सकता। लेकिन आप जज न हो, तब तो दुनिया का काम शायद चल सकता है। यो कहिये कि जज हुए बिना पहले तो आप ही का काम नही चलता। आपको बारह सौ रुपये मासिक मिलते है न?

मित्र बोले कि मै बारह सौ छोडता हूँ। मुझे उस काम मे कोई रस नही है। चलो, आप मुझे पाँच सौ ही माहवार दे देना। आखिर बाल-बच्चे तो पलने चाहियें।

मैंने कहा कि बारह सौ माहवार आप इतने दिनो पाते रहे है। अब गलत समझ कर उसे छोडते है तो उस गलती करते रहने के लिए क्या आपसे उल्टा और प्रायश्चित्त नही माँगा जा सकता? अगर कोई

चीज़ बुरी है तो उसे छोडने के लिए क्या आप कोई बदला माँग सकते है ? क्या उसका छोड देना ही काफी लाभ नही है ?

मित्र ने कहा कि यह आदर्शवाद है। व्यवहार ऐसे नही चलता।

मैंने कहा कि व्यवहार के चलने की बात पीछे रखिये। अभी तो बाल-बच्चो के नाम पर बारह सौ मासिक लेकर आप जो काम कर रहे है, वह समाज ने अपने लिए जरूरी बना रखा हो, पर मालूम होता है कि आप उसको उस लायक नही समझते। तब तो कहना होगा कि बारह सौ एक दुष्कर्म की रिश्वत के रूप मे आप लेते है। क्या यह न्याय है ?

उन्होंने पूछा कि आप क्या चाहते है ?

मैंने कहा कि मै न्याय को समझना चाहता हूँ। मुझे मालूम होता है कि जब तक आपकी नीतिमत्ता मे लोगो का सहज विश्वास नही है, आपकी जजी जब तक संस्था-बद्ध है और सरकारी बल पर कायम है, तब तक आपका न्याय सन्दिग्ध है। वह तब सरकारी न्याय है, वास्तविक न्याय नही है। सरकारी न्याय की जरूरत हो सकती है; लेकिन वह जरूरत काम चलाऊ चीज की तरह की है। उस पर सन्तुष्ट होकर नही रहा जा सकता और जो समाजको आगे बढायेगा, वह उस समाज का जज नही हो सकता। उसे जन-सामान्य के साथ सामान्य होना होगा। जिससे यह सम्भव हो सके कि आवश्यकता होनेपर, वह जज की कुर्सी के समक्ष प्रचलित कानून के विरुद्ध, अभियुक्त के कठघरे मे खड़ा हो सके। जो सरकारी पदस्थ के कारण सम्भव बनता है, वह कर्म यथार्थ हित का नही हो सकता। गवर्नर गवर्नरी ही कर सकता है, गवर्नर के पद पर बैठ कर कुछ और नही किया जा सकता। वह खुद व्यक्ति उतना नही हो सकता, जितना गवर्नर होता है। उसकी निजता उतनी स्पष्ट और प्रबल नही हो सकती, क्योकि वह पदारूढ है। इससे कुर्सी-वाले न्याय-कर्त्ता से सच्चा न्याय नही मिल सकता, क्योकि वहाँ वह

स्वय होकर नही बैठता, जज होकर बैठता है। आत्मा की आवाज वह उस समय दबा सकता है; लेकिन कानून की किताब की आज्ञा उसे माननी होती है।

इस पर मित्र ने बताया कि खुद उनके साथ कई वार ऐसा हुआ है। उनके मन मे पक्का निश्चय होगया है कि सही बात अमुक है, लेकिन गवाहो के बयान से उसको साबित करना मुश्किल था। इससे फैसला मन के खिलाफ देना पडा।

मैंने पूछा कि यह आप लोग कैसे कर सकते है ?

मित्र बोले कि हम सर्वज्ञ भी तो नही है। इससे बाहरी बातो के आधार पर फैसला करना क्या बुरा है ?

मैंने कहा कि आदमी और आदमी के बीच में सहानुभूति जहाँ नही है, केवल कानून ही है, वहाँ न्याय भी नही है। आदमी पदार्थ नही है। वह दिल रखता है, वही दिल जो कि जज की कुर्सी पर बैठे आदमी के पास है। उसको अलग करके जो किया जाता है, वह न्याय कैसा है ?

मित्रने हँस कर कहा कि आप अराजकता तो नही चाहते ?

मैंने कहा कि मैं प्रेम चाहता हूँ। प्रेम मनुष्यो को फाडता नही है, मिलाता है। अराजकता में आपाधापी की ध्वनि है। प्रेम में उत्सर्ग है। सरकारी सब कुछ मिटाया नही जा सकता। अदालत न रहे तो कौन जानता है कि उससे कितनी न गड़बड वढ जायगी। लेकिन अदालत के हाकिम से यह ज़रूर मै कहना चाहता हूँ कि अदालत को अपनेसे सर्वथा सन्तुष्ट नही रहना चाहिये। उसके लिये आत्मनिरीक्षण और भी जरूरी है। जज के मन में क्षमा नही है और व्यथा नही है तो दण्ड देने का अधिकार भी उसे नही है। बारह सौ रुपये वाला अधिकार न्याय के मामले मे अधिकार बिल्कुल नही रहता। जज का अधिकार तो मानसिक और नैतिक ही हो सकता है। और जो उस दृष्टि से अनधिकारी है, वह जज बनकर अभियुक्त के कठघरे में खडे होने लायक बनता है। क्या आज

आप कह सकते है कि कितने जज है जो अपने काम में अन्तरात्मा का ख्याल रखते है ? नही रखते तो क्यो न कहा जाय कि वे अपराधी हं ? हमारा कानून उस अपराध को नही पकड सकता, लेकिन क्या सचाई के कानूनसे भी किसी की बचत है ?

मित्र हमारे ईश्वर-परायण और धर्म-भीरु व्यक्ति है। वह स्वय ईश्वरीय न्याय को मानते है। लेकिन इस बात मे उनको विशेष अर्थ दिखाई नही दिया कि जजी दुष्कर्म है। वह मानते है कि कर्म वह दायित्वपूर्ण है और बारह सौ मासिक जो उस काम का उन्हे मिलता है, वह भी इस दृष्टि से उचित ही है कि जज जन-साधारण से कुछ विशिष्टता की स्थिति में रह सके। नही तो न्याय के लायक तटस्थता उसमे नहीं रह सकती।

मैंने हँस कर कहा कि आप बारह सौ बेशक क्यों छोड़े। इसमे हम जैसे आपके मित्रों को भी लाभ की आशा है न ?

वह बोले कि यह पैसे की बात नही है।

मैंने कहा कि पैसा छोड देने पर ही ठीक पता चलता है कि किस बात में कितना पैसे का अंश है। उससे पहले पता नही चलता। लेकिन आपकी निश्चिन्तता में भङ्ग नही करना चाहता।

....खैर, मित्र जज है और अब वह अवकाश लेने वाले है। साथ पेन्शन भी लेंगे। मुझे जब मिलते है, मानते जाते है कि बेशक कानून का न्याय हृदय के न्याय से घट कर है। हम लोग जाने अपने ऊपर कितना अन्याय करके न्यायकर्ता का काम चलाते है।

पर न्याय-अन्याय जो हो, आप निश्चय रखिये कि न्यायाधीश का पद जब छूटेगा तभी उनसे छूटेगा। उस पद और उस वेतन को वह मानसिक विश्वास के बल पर छोड़कर समाज मे कुछ क्षोभ पैदा नही करेंगे। क्योंकि वह ऐसे धार्मिक है कि संसार की बातों को विशेष महत्व नहीं दे सकते।

वह जो हो, लेकिन मैं जानता हूँ कि न्याय खरा उसी के हाथों हो सकता है जो व्यक्ति स्वेच्छा से अकिञ्चन हो गया है। जो उसके पास है, बस प्रेम। वही उसका समूचा धन। उस प्रेम में वह अपने का नीच-से-नीच का भी सेवक देखना चाहता है। अपराधी का अपराध वह खुद अपने में देखना चाहता है। इसलिये खुद वेदना लेता है और दूसरे को स्नेह ही देता है।

: १३ :

अहिंसा की बुनियाद

जैन-धर्म को मै इतना जानता हूँ कि वह आत्म-धर्म है। आत्मा सब मे है। सब मे परमात्मा है, पर हम में वह मूर्छित पड़ा है। जिन्होने परमात्मत्व का लाभ किया है, उनमे आत्मा का शुद्ध चिन्मय रूप अपने निर्मल कैवल्य में प्रस्फुटित हो गया है। आत्म-धर्म होकर जैन-धर्म एक ही-सा सबके उपयोग का हो जाता है। इसी से दूसरा इसका नाम अहिंसा धर्म है। अहिंसा को परम धर्म कहा है। अहिंसा, यानी दूसरे सब जीवों मे आत्मोपमता। जो है वह सब मे है। जिससे मुझे चोट लगती है, उससे दूसरे को भी त्रास होता है। इससे जो मैं नही चाहता कि मेरे प्रति किया जाय, वह मुझे दूसरे के प्रति भी नही करना है। अहिंसा की प्राथमिक भूमिका यही है। लेकिन अहिंसा तो परम धर्म है न। इससे जीवन के सतत और चरम-विकास में कही उसकी उपयोगिता समाप्त नही होती। वह अचल तत्व नही, गतिमय और विकासशील धर्म है। उसके प्रयोग को चुकाया नही जा सकता। उसमे अनत सभावनाए है और जब तक व्यक्ति शुद्ध, बुद्ध, मुक्त नही हो जाता तब तक अहिंसा का उसे सबल है। यानी दूसरे को दुःख न पहुँचाओ, यहां से अहिंसा शुरू होकर दूसरे के हित मे निछावर हो जाओ, इस शिक्षा की ओर अग्रसर होती है। इस दिशा में अहिंसा की माग बढती ही जाती है। अहिंसक के पास अपनेपन जैसी कोई चीज नही रह जाती। साँस भी वह अपने लिए नही लेता। यहाँ तक कि उसे अपनी मुक्ति का भी कामना नही

रहती। प्राणियो की 'आर्ति' को दूर करने मे वह काम आता रहे, यही उसकी भावना रहती है। शेष से अलग जैसे उसके पास अपना कोई निजत्व ही नही रह जाता। इस तरह उसका जीवन लोक-जीवन के साथ तत्सम होकर विराट हो जाता है। उसका हृदय उत्तरोत्तर शुद्ध होकर इतना ग्रहणशील होता जाता है कि वातावरण में व्याप्त त्रास की रेखा भी उसके चित्त को आदोलित कर देती है।

इस अहिंसा के धर्म मे मेरी निष्ठा है। सचमुच वह ग्रन्थो में से मुझे प्राप्त नही हुआ। जीवन में जो असफलताए, संघर्ष, हीनताए झेली, उन्ही में से यह दर्शन फूट निकला है।

आज हम जिस समय मे रह रहे है, साँस भी वहाँ घुटता है। खाना, सोना, रहना सब एक समस्या बना है। बडे सवालो की बात मै नही करता। राजकीय और अन्तर्राष्ट्रीय मसलों की पेचीदगियों से वे उलझेंगे जो उसमें पडे है। लेकिन हम भी उस उलझन से बाहर नही है। सात समुद्र पार हो रही लडाई से हमारा भाग्य भी हिलगा है। वह लडाई अब तो किनारे आरही दीखती है। पर क्या हमे कुछ अपने भाग्य का निस्तार दीखता है? मानो जीवन की समस्या लडाई निबटने पर सुलझेगी नही। वह उल्टे कही और कसी हुई ही न दिखाई दे। हर चीज का मूल्य तिगुना हो गया है। हाँ, सिर्फ पैसे का मूल्य तिहाई रह गया है। समस्या इस पैसे की है। वह सरल और सीधी नही है। जरूरी चीजो के लिये सबके पास जरूरी पैसा नही है। कही वह बहुत है, कही वह बिलकुल नही है। अनाज खेत मे उगता है, पर पैसा वहाँ पैदा नही होता। पैसा ऐसी चीज नही है कि भगवान के दिए हुए दो हाथो की मेहनत से कोई पैदा कर ले। उसके पैदा करने मे कुछ ऐसी चीज की जरूरत भी होने लगी है, जो भगवान ने नही दी। पैसा एक राजनीतिक सस्था है। राजनीति मनुष्य की अपनी बनाई हुई चीज है। राजनीति और अर्थनीति को जुडवा जोडी समझना चाहिये। दुनिया का अर्थ-चक्र एक ऐसा यंत्र

है, जिसकी बारीकी और पेचीदगी का तुलना कोई दूसरा यंत्र नहीं कर सकता।

मैं मानता हूँ कि अहिंसा इन प्रश्नों से तटस्थ नही रह सकती। वह पानी क्या, जो आग बुझाये नही। अहिंसा अपनी निजता के वृत्त मे सिद्ध नही होती है। मै अपने प्रति अहिंसक हूँ, इसका कोई अर्थ ही नही। उसकी तो सामाजिक और आपसी व्यवहार में ही सार्थकता है। इससे राजकीय और अन्तर्राष्ट्रीय सब सवालो की चुनौती उसे स्वीकार करनी होगी, जो अहिंसा को धर्म मानता है। अहिंसकों को साबित करना होगा कि उनकी अहिंसा इन सवालों की ललकार पर पीछे रहने वाली नही है, बल्कि वह उनका सामना और समाधान कर सकती है।

धर्म के भी और सब चीजों की भांति दो पक्ष है। सत्ता कोई बिना दो सिरो के हो नही सकती। धर्म का एक मुख उस सर्वात्म या परमात्मा की ओर है, जो एक, अभिन्न, अखड है। धर्म का यह पहलू अनिर्वचनीय है। वह चर्चा और विवेचन से अगम है। उसकी साधना एकात मौन में है। उपासना, पूजा, भक्ति, प्रार्थना सब उसी के ध्यान के रूप है। इसमें व्यक्ति अपने को विश्वभाव से देखता है। या कहो कि विश्वात्मा के प्रति समर्पण द्वारा वह अपने को रिक्त करता है। वहाँ शब्द मात्र उपलक्ष है। मूर्ति, प्रतिमा, स्तोत्र, नाम आदि सब बाह्य साधन है। नाम कुछ हो, शब्द कुछ हो, उपास्य मूर्ति का आकार-प्रकार कुछ हो, मंदिर कही या कोई हो और पूजाविधि भी चाहे जैसी हो, इस अंतर से कोई अंतर नही पड़ता। इस अंतर का वहाँ मूल्य नही है। वहाँ तो व्यक्ति के निःस्व समर्पण की ही माग है। इस भक्ति-योग का जहा जितना सद्भाव है, धर्म की वहा उतनी सफलता है।

यह तो धर्म का निश्चय और वैयक्तिक रूप है। वाद अथवा विवाद का यह विषय नही है। इसमें व्यक्ति अपने अन्तःकरण या सर्वान्तर्यामी के प्रति ही दायी है। शेष का उसमे कोई दखल नही है। यह तो आत्म-शक्ति के संचय का रूप है, प्राण-साधना का विधान है।

किन्तु शक्ति की सार्थकता अपने में तो नही है। वह उसके उपयोग में है और यही धर्म का दूसरा पक्ष आता है। इसका मुख जगत् की ओर है। सच यह कि धर्म की कसौटी जगज्जीवन है। हमने प्राणो मे कितना और कैसा बल प्राप्त किया है, वह धार्मिक है अथवा अन्यथा है, उसकी परख बाहर जन-समाज में ही है। यह जो अपने से पर प्रतीत होने वाला असीम बाह्य जगत् फैला है, क्या वह हमारे अतर्जगत् से एकदम भिन्न चीज है ? सचमुच वह अलग नही है। अन्तर और बाह्य में वही सबध है जो सिक्के के दोनो पहलुओ में है। इससे जीव का लक्षण ही है परस्परोपग्रह। परस्परता वह वायु है, जिसमें जीव पनपता है। अत आत्मस्थ व्यक्ति का स्वभाव ही है आत्मदान। जिसने अपने को पाया, उसके लिये अनिवार्य हो गया कि वह अपने को दे। सच यह है कि खोकर ही सदा अपने को पाया गया है और सेवा में ही स्वास्थ्य और सामर्थ्य सार्थक हुए है।

धर्म के ये दोनो पक्ष परस्पर को धारण करने वाले है। वे अन्योन्याश्रित है। आध्यात्मिकता जगत् से पराङमुख होकर स्वय दूषित होती है और आत्मा की ओर से विमुख होकर सासारिकता भी प्रवचना है। धर्म की साधना में इस प्रकार की एकागिता आने का सदा खतरा है। विरागी जन मुक्ति की खोज में वन में भटक गये है और संसारी जन सुख की तलाश मे इस व्यूह-चक्र में ही अटक रहे है। एक को भूल कर दूसरे को सिद्धि भला कहां रखी है ? सत्य द्वैत मे थोडे हो सकता है। सत्य तो अद्वितीय और अखड ठहरा, ऐक्य मे से ही उसकी साधना है। जगत् और ब्रह्म उसके निकट दो नही है। माया भी वहाँ ब्रह्म की ही लीला है।

इसी को जैन-भाषा में कहा जा सकता है। महावीर राज छोड़ वन मे चले गये। वहाँ बारह बरस तपस्या की। तपस्या के बल से कैवल्य पाया। उस केवल ज्ञान को ले कर क्या वह फिर विजन मे रहे आये ? नही, तब उनका मुख जन और जगत् की ओर हुआ और शेष जीवन

उन्होने उस ज्ञान के वितरण मे लगाया। जो उनके पास था उसे सब म बाटे बिना उन्हे चैन कहाँ था। इस प्रयास में वह उत्तरोत्तर अकिंचन और निर्द्वन्द्व होते चले गये, यहाँ तक कि अन्तिम बाधा यह शरीर भी उनसे यही के लिये छूट गया।

महावीर का आप स्मरण करते है, पर किस आधार पर ? उनका आपके पास क्या शेष है ? कोई यादगार उनकी नही, अवशिष्ट उनका नही। यहाँ तक कि इतिहास भी उनका इतिवृत्त पूरी तरह नही जुटा पाता। फिर भी आपके हृदय में वह स्वय आपसे अधिक जीवित है। क्या उनके लिये आप मे अपना जीवन निछावर करने की ही इच्छा नही पैदा हो पाती ? क्या आप नही मानते कि आप धन्य होंगे यदि उनके काम आ सकेंगे ? यह सब इसलिए कि महावीर के नाम से आप में अपने चिदानद निज रूप का स्मरण जाग उठता है।

यहाँ एक बात विचारने की है। धन बडे काम की चीज है न ? उससे तरह-तरह के परोपकार के काम किये जा सकते है। भूखों को अन्न दिया जा सकता है और दीनों के अभाव को भरा जा सकता है। फिर सत्ताधिकार का और भी अधिक उपयोग है। अफसरी और नामवरी के लिये लोग इतना धन जो लुटाते है, सो व्यर्थ थोड़े ही। उसमे कुछ-न-कुछ सार्थकता तो मालूम होती ही होगी।

लेकिन महावीर राजकुल मे जनमे। सम्पदा उनके पास और शासन उनके हाथ। सीधी-सी बात है कि वे दुनिया का बहुत लाभ कर सकते थे, लेकिन उन्होने वैसा कुछ उपकार का काम नही किया। उलटे यह सब छोड कर वह अतर्मुख साधना मे लग गये।

मै पूछता हूँ कि फिर यह क्यों है कि हम उनका उपकार मानते है और वह इतना अमित कि उनकी मूर्ति के चरणों मे बिछकर ही हम परम धन्यता का अनुभव करते है ? क्या इसीलिए नही कि उन्होंने हमारे शरीर, बुद्धि, मन की चिंता न कर हमें हमारी आत्मा का ही दान किया। हममें हमारी ही सुधि जगाई।

देखने मे क्या यह नादानी नही कि जिस धन से अपना और दूसरे का लाभ हो सकता है, उससे जान-बूझ कर हीन बन जाया जाय ? फिर भी महावीर ने वही किया । उसी करने को हम परम और चरम पुरुषार्थ पहचानते है और उसके लिए महावीर को तीर्थंकर मानते हैं ।

यहाँ फिर हम रुकें । यह सच है कि हम बन्धन नही चाहते, हम स्वतत्र और मुक्त होना चाहते हैं । धन उसी निमित्त हम कमाते हैं । धन के बिना हम अपने चारो तरफ जकड अनुभव करते हैं । धन जैसे हमारे बन्धन खोल देता है । दरिद्र के मनोरथ उसे कष्ट देते है । धन से मन-चाहा किया जा सकता है । अपने भीतर की इसी आज़ादी की खोज में हम धन कमाते है, और क्योकि आजादी का कही अत नही है, इससे धन की तृष्णा का भी अत कैसे हो सकता है ?

लेकिन जिस मुक्ति के लिये हर कोई क्षण छटपटाता है, वह पाई तो किसने ? क्या उसने जिसने अतुल धन-राशि एकत्रित की या एकछत्र साम्राज्य स्थापित किया ? चक्रवर्ती भी हो गये है और कुबेर भी हो गये है; लेकिन क्या किसी के बारे मे भ्रम है कि इनमें से किसी ने अपने अपार धन और सत्ता के बीच अपने को मुक्त अनुभव किया ? क्या उन्होंने ही अपने जीवन से प्रमाणित और अपने शब्दो में यह स्वीकृत नही किया है कि यह समस्त वैभव उनके चारो ओर के बन्धन का जजाल ही था ? सेनाओं और दरबारियो से घिरे हुए राजाओ ने क्या अत में नही पहचाना कि वे जितने ऊँचे थे, उतने ही वे इकले और एकाकी थे ? जितने वे दूसरे के शासक थे, उतने ही वे परतत्र भी थे ।

इसके साथ क्या हमारी ही अन्तरात्मा इस बात की साक्षी नही देती कि मुक्ति का रहस्य और उसका ।आनन्द ।था उन लोगो के पास, जिनके पास पूँजी के नाम केकल प्रेम था, अन्यथा जो अत्यन्त अकिंचन और निरीह थे, जो स्वय शून्य थे और सम्पूर्ण रूप मे आत्मशासित थे ।

इस विस्मय पर हमें कुछ रुकना चाहिये कि जो चलने-फिरने, खाने-पीने तक के बारे मे एकदम परतत्र है, जिसके पास अपना कहने को कुछ

नही है, ठीक ऐसा ही आदमी है जो सर्वथा स्वतत्र है। वह अभय है, मुक्त है, आप्त है।

इसके विरोध मे जिसके पास सब कुछ है वह दीन, दरिद्र और बन्धन में जकड़े प्राणी के समान है। वह काल से, मनुष्य से, पडौसी से शका करता हुआ जीता है और जीवन के वरदान को अपने लिए अभिशाप बना डालता है।

इसके भीतर हम जायँगे तो देखेगे कि इच्छा की मुक्ति बन्धन का ही दूसरा नाम है। इच्छा तो अनन्त और असीम ठहरी, पर बाहर उसका सीमा है और उसका अन्त है। इच्छा उसी बाहर की ओर जाती है। इससे वह हमको हमारेपन से दूर ले जाती है। तब हम देखते है कि वे इच्छाएं हमारी नही, बल्कि हम उनके हैं। ऐसे वह हम पर सवारी गाठती और क्योकि उन्हे कही न कही तो निराश होना ही है इससे हमें क्षत-विक्षत कर छोड़ती है।

सच्ची मुक्ति इच्छा की मुक्ति नही, बल्कि इच्छा से मुक्ति है। निष्काम और अनासक्त पुरुष ही मुक्त-पुरुष है। वह तृप्त-काम है; क्योकि जो इस समस्त कर्म-सकुल जगच्चक्र का आधारभूत प्राणकेन्द्र आत्मा है, वह उसमे तन्निष्ठ और तद्गत बनता है।

मै अर्थ का विरोधी नही। मै स्वार्थ का भी विरोधी नही। मै सब के अर्थ की पूर्ति चाहता हूँ। उसका नाम परमार्थ है। अर्थ हमारा छोटा क्यों है? वह क्यों न इतना वडा बनता जावे कि सब उसमे समा जायँ? वह सबसे अविरोधी हो। सच पूछिए तो गहरा स्वार्थ ऐसा ही होता है। परमार्थ और स्वार्थ मे यदि विरोध है तो क्या यही न मानना चाहिए कि अपने स्वार्थ के बारे मे हम अदूरदर्शी है? अपने ही 'स्व' को और स्वार्थ को हम नही जानते है।

पच्छिम से आई विचारधारा आर्थिक है। पच्छिम से और अर्थ न लें तो वहाँ भी सन्त है, साधु है, सद्विचारक है। और आर्थिक विचार-

धारा पूर्व में भी वैसी ही फैल रही है। मेरी समझ में नहीं आता कि केवल अर्थ ही क्यो जीवन का माप-दण्ड हो ? परमार्थ क्यों न उसकी जगह ले ? अर्थ तो परमार्थ का एक अश ही है। इसलिए पारमार्थिक दृष्टिकोण आर्थिक का समावेश करके ही स्वयं सफल हो सकता है।

'समाजवाद' शब्द अब सब का परिचित है; लेकिन उसमें भी मनुष्य को आर्थिक सदर्भ मे लेकर सतोष क्यो मान लेना चाहिए ? मनुष्य का अर्थ जैसे समाज मे देखा जाता है, वैसे ही अर्थ को भी परमार्थ में देखने का प्रयास राजनैतिक विचारक क्यो न करे ? तब उनकी तृप्ति सामाजिक वाद मे न होगी, वे सामाजिक धर्म को ही चाहेगे । मुझे भी समाज के वाद यानी समाज की बात से सतोष नही होता । लगता है कि बात से आगे काम भी समाज का ही होना चाहिए। इस नीति को समाजवाद से आगे समाज-धर्म की ही नीति कहना होगा।

अर्थ का विचार करे। जैन व्यापारियो की जाति है और धनाढचता मे पहले नही तो दूसरे नम्बर पर है। इससे अर्थ की असलियत आप पर खुली ही है। सिक्का खुद खाया या पहना नही जाता। वह सीधे किसी काम में नही आता; परन्तु उसमे ताकत है कि वह चीज़ो को जुटा दे। पदार्थो के विनिमय मे सुभीता लाने के लिए वह उपजा। उस धन की बात करें, जो जीवन के लिए अनिवार्य है तो धनत्व सिक्के में नही, चीज़ में है। अब वितरण और विनिमय ऐसा कुछ विषम हो गया है कि सिक्का स्वय धन बनता जा रहा है। नतीजा यह कि जो अपनी मेहनत से मनो नाज उगाता है, वही मुट्ठी-भर अन्न को तरस सकता है।

हम जो सम्पत्ति का उपार्जन करते है, वह सम्पति का बाँट-बढाव ही है। उस सम्पत्ति मे कोई बढवारी हम से नही होती। लक्ष्मी इस जेब से उस जेब में पहुँचती रहती है। अपनी निज की दृष्टि से नहीं, समूचे समाज की दृष्टि से देखें तो इस लाखो-करोडों के धनोपार्जन में क्या एक पैसे का भी सच्चा उपार्जन हम करते है ? व्यापारी वस्तुओ को इधर-

से-उधर करता है। काम यह ज़रूरी है; लेकिन क्या सचमुच वह वस्तुओं को बनाता, बढाता या उगाता है ? जब तक उसका श्रम उत्पादक न हो तब तक उसका उपार्जन शुद्ध पारमार्थिक कैसे कहा जाय ? और हम देख ही चुके कि पारमार्थिक से अनुकूल होकर ही अर्थ मे अर्थता है, अन्यथा वह अनर्थ भी हो सकता है।

एक दूसरी बात की ओर भी मै ध्यान दिलाऊँ। मुद्रा मे यदि शक्ति है तो किस के बल पर ? रुपये मे क्या सचमुच सोलह आने का मूल्य है ? आप जानते है कि ऐसा नही है। उस शक्ति का स्रोत सरकार है। तभी तो हर सिक्के पर उसकी मुहर और बड़े नोटो पर अफ़सर के दस्तखत होते है। यह सरकार किस पर टिकी है ? उसकी शक्ति क्या फौज-पुलिस और इनकी सहायता और सरक्षण मे रहने वाले कानून और कचहरी ही नही है ? फौज और पुलिस के बल को क्या आप अहिंसा कहेगे ? इस तरह जाने-अनजाने सिक्को के रूप मे या सिक्को के बल पर किया गया द्रव्यापार्जन इस सरकारी हिसा मे सहभागी होता ही है।

राजनीति से मुझे सरोकार नही। अधिकाश वह प्रपच का खेल है, लेकिन मुझको ऐसा मालूम होता है कि अहिंसा की बुनियाद उत्पादक शारीरिक श्रम होना ही चाहिए, अन्यथा वह अहिंसा तेजस्वी न रह कर दया की तरह मुलायम और निस्तेज रह जायगी।

धर्म हमको प्रिय है, किन्तु हमे अपनी सम्पत्ति भी प्रिय होती है। कही ऐसा तो नही है कि सम्पत्ति के रूप में ही हम अपने धर्म को प्यार करते है। तिजोरी खोल कर अपने हीरे, पन्ने और सोने रूपे के आभूषण देखकर गद्गद् हो सकते है कि अहा ! क्या सुन्दर हमारा यह कण्ठा है, या हमारा यह हार है ! इसी तरह अपने ग्रन्थो में झाँक कर हम परम आनन्द पा सकते है कि अहा ! कैसा मनोहर हमारा जैन-धर्म है ! किन्तु धर्म ऐसी चीज़ नही है जो आपका स्वत्व बन जाय। वह तो ऐसी अमोघ शक्ति है कि आपको जला दे। जल कर ही आदमी उजलता है।

धर्म का सेवन नही हो सकता, धर्म मे अपनी आहुति ही दी जा सकती है।

यदि हम धर्म की महिमा चाहते है तो उसकी कीमत में अपने को देने को तैयार होना होगा। कीमत बिना चुकाये जो चीज़ मिलेगी वह असली कैसे हो सकती है ? आदमी के बाज़ार में चूक चल जाय, पर पर धर्म के हाट मे ऐसी भूल भला सम्भव है ?

: १४ :

गांधी-नीति

गाधीवाद पर शुरू में ही मुझे कहना होगा कि मेरे लेखे वह शब्द मिथ्या है। जहां वाद है वहा विवाद भी है। वाद का काम है प्रतिवाद को विवाद द्वारा खडित करना और इस तरह अपने को चलाना। गाधी के जीवन में विवाद एकदम नहीं है। इसलिए गाधी को वाद द्वारा ग्रहण करना सफल नही होगा।

गाधी ने कोई सूत्रबद्ध मन्तव्य प्रचारित नही किया है। वैसा रेखा-बद्ध मन्तव्य वाद होता है। गाधी अपने जीवन का सत्य के प्रयोग के रूप में देखते है। सत्य के साक्षात् की उसमे चेष्टा है। सत्य पा नही लिया गया है, उसके दर्शन का निरन्तर प्रयास है। उनका जीवन परीक्षण है। परीक्षा-फल आकने का काम इतिहास का होगा, जब कि उनका जीवन जिया जा चुका होगा। उससे पहले उस जीवन-फल को तौलने के लिए बाट कहा है ? कालांतर (Perspective) कहा है ?

जो सिद्धान्त गाधी के जीवन द्वारा चरितार्थ और प्रसिद्ध हो रहा है वह केवल बौद्धिक नही है। इसलिए वह केवल बुद्धि-ग्राह्य भी नही है। वह समूचे जीवन से सम्बन्ध रखता है। इन लिहाज से उसे आध्यात्मिक कह सकते है। आध्यात्मिक यानी धार्मिक। व्यक्तित्व का और जीवन का कोई पहलू उससे बचा नही रह सकता। क्या व्यक्तिगत, क्या सामाजिक क्या राजनैतिक, अथवा अन्य क्षेत्रो मे वह एक-सा व्यापक है। वह चिन्मय है, वादगत वह नही है।

गाधी के ज़ीवन की समूची विविधता भीतरी संकल्प और विश्वास की निपट एकता पर कायम है। जो चिन्मयतत्त्व उनके जीवन से व्यक्त होता है उसमें खड नही है। वह सहज और स्वभावरूप है। उसमें प्रतिभा की आभा नही है, क्योंकि प्रतिभा द्वद्वज होती है। उस निर्गुण अद्वैततत्व के प्रकाश में देख सकें तो उस जीवन का विस्मयकारी वैचित्र्य दिन की धूप जैसा धौला और साफ हो आयेगा। अन्यथा गाधी एक पहेली है जो कभी खुल नही सकती। कुंजी उसकी एक और एक ही है। वहां दो-पन नही है। वहा सब दो एक है।

"सर्वं धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।" समूचे और बहुतेरे मतवादो के बीच में रहकर, सबको मानकर किन्तु किसी मे न घिर-कर, गाधी ने सत्य की शरण को गह लिया। सत्य ही ईश्वर और ईश्वर ही सत्य। इसके अतिरिक्त उनके निकट ईश्वर की भी कोई और भाषा नहीं है, न सत्य की ही कोई और परिभाषा है। इस दृष्टि से गांधी की आस्था का आधार अविश्वासी को एकदम अगम है। पर वह आस्था अटूट, अजेय और अमोघ इसी कारण है। देखा जाय तो वह अति सुगम भी इसी कारण है।

कहां से गाधी को कर्म की प्रेरणा प्राप्त होती है, इसका बिना अनु-मान किये उस कर्म का अगीकार कठिन होगा। स्रोत को जान लेने पर मानो वह कर्म सहज उपलब्ध हो जायगा। गाधी की प्रेरणा शत-प्रति-शत आस्तिकता मे से आती है। वह सर्वथा अपने को ईश्वर के हाथ में छोडे हुए हैं। ऐसा करके अनायास वह भाग्य-पुरुष (Man of Destiny) हो गये हैं। जो वह चाहते है, होता है—क्योंकि जो होने वाला है, उसके अतिरिक्त चाह उनमें नही है।

बौद्धिक रूप से ग्रहण की जाने वाली उनकी जीवन-नीति, उनकी समाज-नीति, उनकी राजनीति, इस आस्तिकता के आधार को ताड़ कर समझने की कोशिश करने से समझ में नही आ सकती। इस भाति वह एकदम विरोधाभास से भरी, वक्रताओ से वक्र और प्रपचों से क्लिष्ट

मालूम होगी। जैसे उसमे कोई रीढ ही नही है। वह नीति मानो अवसरवादी की नीति है । मानो वह घाघपन है । पर मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि यह घाघपन, यह कार्य-कौशल, अनायास ही यदि उन्हे सिद्ध हो पाया है तो इसी कारण कि उन्होंने अपने जीवन के समूचे जोर से एक और अकेले लक्ष्य को पकड लिया है। और वह लक्ष्य क्योंकि एकदम निर्गुण, निराकार, अज्ञेय और अनन्त है; इससे वह किसी को बाँध नही सकता, खोलता ही है। उस आदर्श के प्रति उनका समर्पण सर्वांगीण है । इसलिए सहज भाव से उनका व्यवहार भी आदर्श से उज्ज्वल और ग्रन्थिहीन हो गया है । उसमे द्विविधा ही नही है। दुनिया में चलना भी मानो उनके लिए अध्यात्म का ध्यान है । नर की सेवा नारायण की पूजा है । कर्म सुकौशल ही योग है। ईश्वर और ससार में विरोध, यहाँ तक कि द्वित्व, ही नही रह गया है। सृष्टि स्रष्टामय है और विष्ठा को भी सोना बनाया जा सकता है । यों कहिए कि सृष्टि में स्रष्टा, नर में नारायण, पदार्थमात्र मे सत्य देखने की उनकी साधना में से ही उनकी राजनीति, उनकी समाज नीति ने वह रुख लिया जो कि लिया। राजनीति आध्यात्मिकता से अनुप्राणित हुई, स्थूल कर्म में सत्य-ज्ञान की प्रतिष्ठा हुई और घोर घमासान में प्रेम और शान्ति के आनन्द को अक्षुण्ण रखना बताया गया।

सत्य ही है। भेदमात्र उसमे लय है। इस अनुभूति की लीनता ही सब का परम इष्ट है। किन्तु हमारा अज्ञान हमारा बाधा है । अज्ञान, यानी अहकार। जिसमें हम है उसमें ही, अर्थात् स्वय मे शून्य, अपने को अनुभव करते जाना ही ज्ञान पाना और जीवन की चरितार्थता पाना है। यही कर्तव्य, यही धर्म।

विश्वास की यह भित्ति पाने पर जब व्यक्ति चलने का प्रयासी होता है तब उसके कर्म मे आदर्श सामाजिकता अपने आप समा जाती है। समूचा राजनैतिक कर्मांदोलन भी इसके भीतर आ जाता है। देश सेवा आती है। विदेशी सरकार से लड़ना भी आ जाता है। स्वराज्य कायम

करना और शासन-विधान को यथावश्यक रूप में ताड़ना-बदलना भी आ जाता है।

पर वह कैसे ?

सत्य की आस्था प्राप्त कर उस ओर चलने का प्रयत्न करते ही अभ्यासी को दूसरा तत्त्व मिलता है अहिंसा। उसे सत्य का ही प्राप्त पहलू कहिए। जैसे रात को चाँद का बस उजला भाग दीखता है, शेष पिछला भाग उसका नही दिखाई देता, उसी तरह कहना चाहिए कि जो भाग सत्य का हमारे सम्मुख है वह अहिंसा है। वह भाग अगर उजला है तो किसी अपर ज्योति से ही है। लेकिन फिर भी वह प्रकाशोद्गम (सत्य) स्वयं हमारे लिए कुछ अज्ञात और प्रार्थनीय ही है। और जो उसका पहलू आचरणीय रूप मे सम्मुख है वही अहिंसा है।

सत्य में तो सब है एक। लेकिन यहाँ इस संहार में तो मुझ जैसे कोटि-कोटि आदमी अथवा अन्य जीवधारी भी दीखते है। उनके अनेक नाम है, अनेक वर्ग है। ईश्वर में आस्था रखू तो इस अनेकता के प्रति कैसा आचरण करूँ ? इन अनेक में भी कोई मुझे अपना मानता है, कोई पराया गिनता है। कोई सगा है, दूसरा द्वेषी है। और इस दुनिया के पदार्थों में भी कुछ मेरे लिए जहर है, कुछ अन्य औषध है। इस विषमता से भरे ससार के प्रति ऐक्य-विश्वास को लेकर मै कैमे वर्तन करू, यह प्रश्न होता है।

आस्तिक अगर ऐसे विकट अवसर पर सशय से घिरकर आस्तिकता को छोड नही बैठता, तो उसके लिए एक ही उत्तर है। वह उत्तर है, अहिंसा।

जो है ईश्वर का है, ईश्वर-कृत है। मै उसका, किसी का, नाश नही चाह सकता। किसी की बुराई नही चाह सकता। किसी को झूठा नही कह सकता। घमण्ड नही कर सकता। आदि कर्तव्य एकाएक ही आस्तिक के ऊपर आ जाते है।

लेकिन कर्तव्य कुछ आ जाये—तर्क सुझायेगा कि—यथार्थ भी तो

मैं देखू । आख सब ओर से तो मूदी नही जा सकती । वह आख दिखाती है कि जीव जीव को खाता है । मैं चलता हूँ, कौन जानता है कि इसमे भी बहुत सूक्ष्म जीवो को असुविधा नही होती, उनका नाश नही होता ? आहार बिना क्या मै जी सकता हूं ? लेकिन आहार मे कब हिंसा नहीं है ? जीवन का एक भी व्यापार हिंसा के बिना संभव नही बनता दीखता । जीवन युद्ध दिखलाई देता है । वहाँ शान्ति नही है । पग-पग पर दुविधा है और विग्रह है ।

तब कहे कि कौन क्या कहता है । ऐसे स्थल पर आकर ईश-निष्ठा टूट कर ही रहेगी । ऐसे समय पागल ही ईश्वर की बात कर सकता है । जिसकी आखे खुली है और कुछ देख सकती है वह सामने के प्रत्यक्ष जीवन में से साफ सार तत्त्व को पहचान लेगा कि जीव-नाश अनिवार्य है । जीवन एक युद्ध है और उसमे बल की ही विजय है । वह बल जिस पद्धति से विजयी होता, यानी जीवन गति पाता है, उसका नाम है हिंसा । मजबूत के तले सदा निर्बल दबता आया है, और इसी तरह विकास होता आया है ।

मेरे खयाल में श्रद्धा के अभाव मे तर्क की और बुद्धि की सचाई और चुनौती यही है ।

किन्तु समस्या भी यही है, रोग भी यही है । आज जिस उलझन को सुलझाना है, और जिस उलझन को सुलझाने का सवाल हर देश में हर काल मे कर्म-क्षेत्र में प्रवेश करने वाले योद्धा के सामने आयगा, वह यही है कि इस कुरु-क्षेत्र में मै क्या करूं ? किसको तजू, किसको वरू ? अनिष्ट को कैसे हराऊं ? अनिष्ट क्या है, क्या वह अमुक अथवा अमुक नामधारी है ? वही है, या कि वह कुछ मेरे भीतर है ।

इतिहास के आदि से दो नीति और दो पद्धति चलती चली आई है । एक वह जो अपने में नही, दुश्मन को कही बाहर देखकर ललकार के साथ उसके नाश के लिए चलने का बढ़ावा देती है । दूसरी, जो स्वय अपने को भी देखती है और बुरे को नही, उसमे विकार के कारण आ

गयी हुई बुराई को दूर करना चाहता है। ऐसा वह आत्म सस्कार द्वारा करती है। आस्तिक की पद्धति यह दूसरी ही हो सकती है। उस श्रद्धा के बिना बहुत मुश्किल है कि पहली नीति को मानने और उसके वश में हो जाने से व्यक्ति बच सके।

गाधीजी की राजनीति इस प्रकार धर्मनीति का ही एक प्रयोग है। वह नीति सघर्ष की परिभाषा में बात नही सोचती। सघर्ष की भाषा उसके लिए नितान्त असगत है। युद्ध तो अनिवार्य ही है, किन्तु वह धर्म-युद्ध हो। जो धर्म-भाव से नही किया जाता वह युद्ध सकट काटता नही, सकट बढाता है। धर्म साथ हो, फिर युद्ध से मुह मोड़ना नही है। इस प्रकार के युद्ध से शत्रु मित्र बनता है। नही तो शत्रु चाहे मिट ही जाए, पर वह अपने पीछे शत्रुता के बीज छोड जाता है और इस तरह शत्रुओं की सख्या गुणानुगुणित ही हो जाती है। अत. युद्ध शत्रु से नही, शत्रुता से होगा। बुराई से लड़ना कब रुक सकता है ? जो बुराई को मान बैठता है, वह भलाई का कैसा सेवक है ? इससे निरन्तर युद्ध, अविराम युद्ध। एक क्षण भी उस युद्ध मे आँख झपकने का अवकाश नही। किन्तु पलभर के लिए भी वह युद्ध वासना मूलक नही हो सकता। वह जीवन का और मौत का, प्रकाश-अधकार-और धर्म-अधर्म का युद्ध है। यह खाँडे की धार पर चलना है।

इस प्रकार गांधी-नीति की दो आधार-शिला प्राप्त हुईः—

(१) ध्येयः सत्य।

क्योंकि ध्येय और कुछ हो नही सकता। जिसमे द्विधा है, दुई है, जिससे कोई अलग भी है, वह ध्येय कैसा ? जो एक है, वह सपूर्ण भी है। वह स्वयं है, आदि-अत है, अनादि-अनत है। प्रगाढ आस्था से ग्रहण करो तो वही परमेश्वर।

(२) धर्मः अहिंसा।

क्योकि इस ध्येय को मानने से जो व्यवहार-धर्म प्राप्त हो सकता है वह अहिंसा ही है।

अहिंसा इसलिए कहा गया कि उस प्रेरक चित्तत्व को स्वीकार की परिभाषा में कहना हो नही पाता, नकार की परिभाषा ही हाथ रह जाती है। उसको कोई पॉजिटिव संज्ञा ठीक नहीं ढक पाती। हिंसा का अभाव अहिंसा नही है, वह तो उसका बाह्य रूप भर है। उस अहिंसा का प्राण प्रेम है। प्रेम से और जीवन्त (पॉजिटिव) शक्ति क्या है ? फिर भी पारमार्थिक और लौकिक प्रेम में अन्तर बांधना कठिन हो जाता, और 'प्रेम' शब्द में निषेध की शक्ति भी कम रहती; इसी से प्रेम न कहकर कहा गया, 'अहिंसा'। वह अहिंसा निष्क्रिय पदार्थ नही है। वह तेजस्वी और सक्रिय तत्व है।

अहिंसा इस प्रकार मन की समूची वृत्ति द्वारा ग्रहण की जाने वाली शक्ति हुई। कहिए कि चित्त अहिंसा मे भीग रहना चाहिए। और सत्य है ही ध्येय। यहाँ कहा जा सकता है कि मात्र इन दोनो—सत्य-अहिंसा-के सहारे साधारण भाषा मे लोक-कर्म के सम्बन्ध में कुछ प्रकाश नहीं प्राप्त होता। सत्य को मन में धार लिया, अहिंसा से भी चित्त को भिगो लिया। लेकिन अब करना क्या होगा ? तो उसके लिए है.—

(३) कर्म: सत्याग्रह।

सत्याग्रह मानो कर्म की व्याख्या है। सत्य प्राप्त नही है। उस उपलब्धि की ओर तो बढते रहना है। इसी मे गति (उन्नति, प्रगति, विकास आदि) की आवश्यकता समा जाती है। इसी मे कर्तव्य यानी करने की बात आजाती है।

यहा प्रश्न उठ सकता है कि जब पहली स्थापना में सत्य को अखंड और अविभाज्य कहा गया तब वहां अवकाश कहा रहा कि आग्रह हो ? जहाँ आग्रह है वहां, इसलिए, असत्य है।

यह शका अत्यन्त सगत है। और, इसी का निराकरण करने के लिए शर्त लगाई गई—सविनय। जहां विनय भाव नही है वहा सत्याग्रह हो ही नही सकता। अविनय यानी हिंसा हो वहां सत्याग्रह शब्द का व्यवहार है तो जान अथवा अजान में छल है। व्यक्ति सदा अपूर्ण है।

जब तक वह है, तब तक समष्टि के साथ उसका कुछ भेद भी है। फिर भी जो समष्टिगत सत्य की झाकी व्यक्ति के अन्त:करण मे प्राप्त होकर जाग उठी है, उस पर डटी रहने वाली निष्ठा को कहा गया, आग्रह किन्तु उस आग्रह में सत्याग्रही अविनयी नही हो सकता, और उस आग्रह का बोझ अपने ऊपर ही लेता है। उसकी (नैतिक से अतिरिक्त) चोट दूसरे तक नही पहुचने देता। यानी सत्याग्रह है तो सविनय होगा। कही गहरे तल मे भी वहा अविनय भाव नही हो सकता। कानून (सरकारी और लौकिक) तक की अवज्ञा हो सकेगी, उसका भग किया जासकेगा, लेकिन तभी जब कि सत्य की निष्ठा के कारण हो और वह अवज्ञा सर्वथा विनम्र और भद्र हो।

गाधी-नीति के इस प्रकार ये तीन मूल सिद्धान्त हुए। यो तीनों एक ही हैं। फिर भी कह सकते हैं कि सत्य व्यक्तिगत है, अहिंसा सामाजिक और सत्याग्रह राजनैतिक हो जाता है।

इसके आगे सगठित और सामुदायिक रूप से कर्म की व्यवस्था और आन्दोलन का प्रोग्राम पाने के बारे कठिनाई नही होगी। व्यक्ति किन्ही विशेष परिस्थितियो के बीच जन्म पाता है। इन परिस्थितियों में गर्भित आदि-दिन से ही कुछ कर्तव्य उसे मिलता है। वह कर्तव्य कितना ही स्वल्प और सँकरा प्रतीत होता हो, लेकिन वही व्यक्ति की सिद्धि और वही उसका स्वधर्म है। उसको करके मानो वह सब कुछ करने का द्वार पा लेना है। "स्वधर्मे निधन श्रेय:, परधर्मो भयावह।

इस भाति वर्तन करने से विकल्प-जाल कटता है। कल्पना का लगाम मिल जाती है। बुद्धि बहकती नही और तरह तरह के स्वर्ण-चित्र तात्कालिक कर्म से बहका कर व्यक्ति को दूर नही खीच लेजाते। क्षणोत्साह की (Romantic) वृत्ति इस तरह मन्द होती है और परिणाम मे स्वार्थजन्य स्पर्द्धा और आपाधापी भी कम होती है। सबको दबा देने और सबसे आगे बढे हुए दीखने की ओर मन उतता नही लपकता और परिणाम व्यक्ति विक्षोभ और विग्रह पैदा करने में

नही लग जाता। महत्वकांक्षा की धार तब काटती नही। व्यक्ति कर्म-शाली तो बनता है, फिर भी भागाभागी से बच जाता है। वह मानों अपना स्वामी होता है। ऐसा नही जान पड़ता जैसे पीछे किसी चाबुक की मार पर बेबस भाव से अन्धी गति म वह भाग रहा हो।

मुझे तो मालूम होता है कि हमारी सामाजिक और राजनैतिक उलझनों की जड़ मे मुख्यता से यही आपाधापी और बढ़ा-बढ़ी की प्रवृत्ति है।

ऊपर यह आन्तरिक (Subjective) दृष्टिकोण की बात कही गई। यानी भावना-शुद्धि की बात। मुख्य भी वही है। पर प्रश्न होगा कि घटना की दुनिया (Objective facts) के साथ गाधी-नीति क्या करना चाहती है। उसमे क्या सुधार हो, और कैसे हो? समाज का संघटन क्या हो? आवश्यकता और अधिकार का, उद्यम आराम का विज्ञान-कला का, शासन का और न्याय का परस्पर सम्पर्क और विभाजन क्या हो? श्रम और पूंजी कैसे निपटे? इत्यादि।

तो प्रश्न-कर्ता को पहले तो यह कहना आवश्यक है कि सारे प्रश्न आज अभी हल हो जायंगे तो काल भी आज ही समाप्त हो जायगा। इससे प्रश्नों का लेकर एक घटाटोप से अपने को घेर लेने और हतबुद्ध होने की आवश्यकता नही है। फिर उनका हल कागज पर और बुद्धि में ही हो जाने वाला नही है। सब सवालो का हल बताने वाली मोटी किताब मुझे उन सवालों से छुटकारा नही दे देगी। इससे विचार-धाराओं (Ideologies) से काम नही चलेगा। जो प्रश्न है उनमे तो अपनी समूची कर्म की लगन से लग जाना है। ऐसे ही वे शनैः-शनैः निपटते जायंगे। नही तो किनारे पर बैठकर उनका समाधान मालूम करलेने से कर्म की प्रेरणा चुक जायगी और अन्त मे मालूम होगा कि वह मन द्वारा मान लिया गया समाधान समाधान न था, फरेब था, और जरा बोझ पड़ते ही वह तो उड गया और हमे कोरा-का- कोरा वही-का-वही छोड गया है। अर्थात् उन प्रश्नो पर बहसा-बहसी और लिखा पढ़ी की अपने आप में जरूरत नही है। उनमे जुट जाना पहली बात है।

गाँधी नीति है कि समस्या को बौद्धिक कहकर केवल बुद्धि-क्रीड़ा से उसे खोलने की आशा न करो। ऐसे वह उलझेगी ही। समस्या जीवन की है, इससे पूरे जीवन बल के साथ उससे जूझो। इस कार्य-पद्धति पर बढते ही पहला सिद्धान्त-सूत्र जो हाथ लगता है वह है 'स्वदेशी'।

'स्वदेशी' द्वारा व्यक्तिगत कर्म मे सामाजिक उपयोगिता पहली शर्त के तौर पर मागी जाती है। इस शर्त का अर्थ है कि हमारे काम से आस-पास के लोगो को लाभ पहुचे। आदान-प्रदान बढे, सहानुभूति विकसे, और पडौसीपन पनपे। पास-पडौसपन (Neighbourliness) स्वदेशी की जान है। मेरा देश वह जहां मै रहता हू। इस भाँति सबसे पहले मेरा घर और मेरा गाँव मेरा देश है। उत्तरोत्तर वह बढ कर ज़िला, प्रान्त, राष्ट्र और विश्व तक पहुच सकता है भूगोल के नक्शे का देश अन्तिम देश नही है। मेरे घर को इंकार कर नगर कुछ नही रहता, उसी तरह नगर प्रान्त को इकार कर राष्ट्र कुछ नही रहता। उधर दूसरी ओर नागरिक हित से विरोधी बनकर पारिवारिक स्वार्थ तो निषिद्ध बनता ही है।

स्वदेशी में यही भाव है। उसमें भाव है कि मै पड़ौसी से टूटू नही और अधिकाधिक हममें हितैक्य बढे। दूसरा उसमें भाव है, सर्वोदय। एक जगह जाकर शरीर भी आत्मा के लिए विदेशी हो सकता है।

समाजवादी अथवा अन्य वस्तुवादी समाज-नीतियां इसी जगह भूल कर जाती है। वे समाज को सम्होलने में उसी की इकाई को भूल जाती है। उनमें योजनाओ की विशदता रहती है, पर मूल में Neighbourliness के तत्त्व पर ज़ोर नही रहता। सामाजिकता वही सच्ची जो पड़ौसी के प्रेम से आरम्भ होती है। इस तत्व को ध्यान मे रखे तो बड़े पैमाने पर चलने वाला यात्रिक उद्योगवाद गिर जायगा। जहाँ बड़े कल कारखाने हुए वहाँ जन-पद दो भागो मे बटने लगता है। वे दोनो एक दूसरे को गरज़ की भावना से पकडने और अविश्वास से देखते है। वे

परस्पर सह्य बने रहने के लिए एक दूसरे की आँख बचाते और मिथ्याचार करते है। मिल मालिक मजदूरों की झोंपडियों को यथाशक्ति अपने से दूर रखता है और अपनी कोठी पर चौकीदारों का दल बैठाता है, जिससे खुद दुष्प्राप्य और सुरक्षित रहे। उधर मजदूरों की आँख में मालिक और मालिक का बंगला कांटा बने रहते हैं।

इस प्रकार के विकृत और मलिन मानवीय सम्बन्ध तभी असम्भव बन सकेंगे जब समाज की पुनरंचना पड़ौसपन के सिद्धान्त के आधार पर होगी। वह आधार स्वार्थ-शोध नहीं है। वस्तुवादी भौतिक (Materialistic) नीतियां अन्ततः यही पहुंचती हैं कि व्यक्ति स्वार्थ के आधार पर चलता और चल सकता है।

स्वदेशी सिद्धान्त में से जो उद्योग का कार्यक्रम प्राप्त होता है उसमें मानव सम्बन्धों के अस्वच्छ होने का खटका कम रहता है। उसमें उत्पादन केन्द्रित नही होगा, और खपत के लिए मध्यम वर्ग के बढने और फूलने की गुजाइश कम रहेगी। मानव श्रम का मूल्य बढेगा और अनुत्पादक चतुराई का मूल्य घटेगा। महाजन, श्रमी और ग्राहक सब आसपास मिले-जुले रहने के कारण समाज मे वैषम्य न होगा और शोषण-वृत्ति को गर्व-स्फीत होने का अवकाश कम प्राप्त होगा।

इस भाति चरखा, ग्रामोद्योग, मादक-द्रव्यनिषेध और हरिजन (दलित)-सेवा यह चतुर्विध कार्यक्रम हिन्दुस्तान की हालत को देखते हुए अन्तः शुद्धि और सामाजिक उपयोगिता दोनों अन्तो को मिलाने वाली गांधी नीति के स्वदेशी सिद्धान्त से स्वयमेव प्राप्त होता है। यह शक्ति-सचय और ऐक्य-विस्तार का कार्यक्रम है। शक्ति और अवसर प्राप्त होने पर फिर सत्याग्रह (Direct action) द्वारा राजनैतिक विधान में परिवर्तन लाने और उसे लोक-कल्याण की ओर मोड़ने की बात विशेष दुस्साध्य नही रहती।

यहां ध्यान रखना चाहिए कि स्वदेशी का आरम्भ राष्ट्र-भावना से नही होता। इसलिए उसका अन्त भी राष्ट्र-भावना पर नही है। राष्ट्र

भावना मध्य मे आजाय तो भले आजाय । स्वदेशी को भौगोलिक राष्ट्र के अर्थ में लेने से गड़बड उपस्थित हो सकती है । इससे 'देशी' पूजीवाद को बढावा मिलता है । और उस राह तो एक दिन State Capitalism मे उतर आना होगा । उसके अर्थ होगे, एक तत्रीय शासन । यात्रिक उद्योगाश्रित समाजवाद का यही परिणाम आने वाला है । यानी ऐसा समाजवाद एक-तत्रवाद (फासिज्म) आदि को बुला कर ही रहेगा । गाधी नीति का स्वदेशी सिद्धान्त, अत हिन्दुस्तानी मिलो को नही, घरेलू चरखो को चाहता है ।

सक्षेप में गाधी नीति इस स्थापना से आरम्भ होती है कि जीवात्मा सर्वात्मा का ही खड है । इससे व्यक्ति का ध्येय समस्त से एकाकार होना है । उसकी इस यात्रा में ही समाज और विश्व के साथ सामजस्य की बात आती है । वह जितना उत्तरोत्तर इन व्यापक सत्ताओं से एकात्म होता चला जावे उतना अपनी और ससार की बन्धन-मुक्ति मे योगदान करता है । इस यात्रा के यात्री के जीवन-कर्म का राजनीति एक पहलू है । आवश्यक है, पर वह पहलू भर है । वह राजनीति कर्म में युद्ध-रूप हो, पर अपनी प्रकृति मे उसे धर्म-मयी और शान्ति लक्षी ही होना चाहिए ।

उस यात्रा का मार्ग तो अपरिचित ही है । फिर भी श्रद्धा यात्री का सहारा है । भीतरी श्रद्धा का स्थिर धीमा आलोक उसे मार्ग से डिगने न देगा । उस राही को तो एक कदम बस काफी है । वह चले, फिर अगला सूझा ही रखा है । मुख्य बात चलना है । राह चलने से ही खुलेगी । इस प्रकार इस यात्रा मे प्रत्येक कदम ही एक साध्य है । यहां साधन स्वय साध्य का अग है । साधन साध्य से कहाँ भिन्न हो सकता है । इससे जिसे लम्बा चलना है, लम्बी बातो का उसके लिए अवसर नही है । वह तो चला चले, बस चला चले ।

व्यवहार का कोई भी कर्म धर्म से बाहर नही है । सब में धर्म का

श्वाँस चाहिये। उसी दृष्टिकोण से जीवन की समस्याओं को ग्रहण करने से समुचित समाधान का लाभ होगा। अन्यथा नही। सब के मन मे एक जोत है। उसे जगाये रखना है। फिर उस लौ में जीवन को लगाये चले चलना है। चले चलना, चले चलना। जो होगा ठीक होगा। राह का अन्त न नाप राही, तुझे तो चलना है।

: १५ :

ब्लैक आउट !

'ब्लैक आउट' का नाम सुना था, देखा अब। सात बजे से बाज़ार सुनसान होने लगा। रोशनियां न जगी। कही बत्ती थी तो उसे अपनी लाज ढकनी होती थी। गर्मी में और दिन इस वक्त मामूली तौर पर लोग दिन के ताप से छूटकर बगीचो-मैदानो में खिले खुले घूमते थे, अब वे घरों में बन्द नही हैं तो दुबके और सहमे घूम रहे है।

क्योंकि 'ब्लैक आउट' है। क्योकि दिन टेढे है और आसमान से गोले बरस सकते है। क्योंकि कोई है जो खूखार है और सबका दुश्मन है, और कभी भी आसमान पर छा आ सकता है। इससे ऐ नगर के वासियो, अन्धेरे मे रहना सीखो। मत पता लगने दो कि नीचे जान है। अंधेरी रात में सन्नाटा भरे मुर्दे की तरह रह सकोगे तो खैरियत है, नही तो तुम्हारा भगवान मालिक है!

दुश्मन सिर पर हवाई जहाज़ लेकर आ ही जाय, तब नीचे का ब्लैक आउट उसकी या हमारी कितनी मदद करेगा, इसका हमें ठीक पता नही है। लन्दन साखा-पढा है, फिर भी बमो की मार खा रहा है। इससे ब्लैक आउट के जोर से दुश्मन के परास्त और हमारे सुरक्षित होने की सम्भावना कितनी बढ जाती है, यह तो हम नही जानते। पर है यह एक नया अनुभव। मन पर उसका असर पड़ता है, मन मानता है कि ऐन सिर पर नही तो देहली पर तो कोई भूत आ ही गया होगा।

लडाई के दिनो मे सबसे कीमती चीज है दिलेरी। दिलेरी डर में से

पैदा होती है। (यह मैं मारने वाली दिलेरी की बात कहता हूं) डर हो तभी तो डराने वाले दुश्मन को मारने का उत्साह हो। इससे जिसमें से उत्साह वसूल करना है, उसमे पहले डर डालना चाहिये। चाहा जाता है कि आदमी कमर बांध कर खडा हो और चल पड़े लडने के लिये, तो यह हो ऐसे ही सकता है कि हम एक मे दूसरे का डर भरे।

डर न होने से एक बड़ा भारी ख़तरा है। वह यह कि जिसको चाहा जाता है कि आप मारे, उसे दुश्मन तो नही बल्कि आदमी के रूप में आप देखने लग जायं। असल में डर ही हो सकता है, जो आपके लिए किसी को दुश्मन बनाये। उस डर में से यह शक्ति आती है कि आप उसे दुश्मन मानकर मारे। कही यदि आप निडर हुए तो खटका है कि शत्रु शत्रु ही न रह जाय, वह आदमी दीख आय। तव उसको मारने लायक जोश भी आप मे कहा रह जायगा। बस यही नामर्दी समझी जायगी!

इसलिये युद्ध-काल मे सबसे आवश्यक तत्त्व है भय। भय के लिये धरती चाहिये द्वेष और घृणा की। इस सबके सयाग बिना शत्रु से लड़ाई न होगी। भला ऐसे कैसे काम चलेगा ?

इस तरह युद्ध नाम के उद्यम व्यवसाय आरम्भ करने से पहले इस प्रकार की तैयारियां काफ़ी की जाती है। हवा में और मन में अविश्वास और घृणा और भय काफ़ी मात्रा में भर जाता है। आदमी का मन ठहरा ही कच्चा, उसमें अविश्वास उभारने के लिये बहुत चतुराई की ज़रूरत नहीं है। स्वार्थ के आधार पर वह चलता ही रहा है। मकान बनाया, परिवार बनाया, सम्पत्ति बनाई। सदा चौकन्ना रहा कि उस मकान और परिवार और सम्पत्ति पर आंच न आये। किसी ने उस पर आंख की तो वह आंख ही निकाल लेगा। बस इस भांति उस आदमी के मन में भय भरने का सरल उपाय हो जाता है—उसके जान-माल को ख़तरे में दिखला देना। ऐसे ही उसमे दिलेरी पैदा होती है। कही अगर उसके मन में

यह लालसा भी लहकाई जा सके कि दूसरो का माल हडप करने का मौका है तब इस दिलेरी में और धार आ जायगी।

लडाई लडने वालो मे यही दो पक्ष है, एक स्वार्थ-रक्षा मे लड़ते और दूसरे स्वार्थ-विस्तार में लडते है। इन वृत्तियो को जगत् में तरह-तरहके नाम प्राप्त है। न्याय, कर्तव्य, धर्म इत्यादि। स्पष्ट है कि जो अपनी तरफ़ न्याय और धर्म को मानता है, वह सबका सब अन्याय और अधर्म दूसरे के माथे पटकता है. .स्वय सभ्यता और संस्कृति का उद्धारक या प्रादुर्भावक वह होता है. दूसरे को उसमें विघ्न रूप राक्षस मानता है। ऐसे परस्पर का अविश्वास क्लेश और घृणा तीव्रतर और लड़ाई अधिकाधिक अनिवार्य होती जाती है।

यह बिलकुल जरूरी है कि दुनिया लड रही है ता हम भी चुप न बैठे। बेशक आग के ऊपर आसन लगाकर बैठने और लपटो को उपदेश देने से लाभ नही है। आग से अप्रभावित रहने की बात मे कुछ मतलब ही नही है। उसका अर्थ यही हो सकता है कि आग की झुलस ने अभी आपको छुआ नही है। यह कोई श्रेय की बात नही। दुनिया के आप अग है। यह कहकर कि धोती में आग लगा है कुर्ता निश्चिन्त नही हो सकता। दुनिया एक है, तो उसके कई और अनेक देश भी परस्पर अनुबद्ध है। इसमे कोई तुक नही कि योद्धाओ के बीच आप कोरे उपदेशक बने। यह तो दम्भ होगा। योद्धा पहचानता है तो योद्धा को। उपदेशक उसके लिये निकम्मा है। शत्रु पक्ष का ही चाहे हो, सच्चे योद्धा के लिये हर योद्धा में प्रशंसा होगी। युद्ध की भाषा ही उसे प्राप्त है। वही उसका साध्य, वही साधन, वही एक उसका तर्क। इससे युद्ध में शान्ति का उपदेशक सिवाय युद्ध की बर्बरता को भडकाने के और कोई सेवा नही कर सकता है। वह अपने लिये योद्धा का तिरस्कार ही प्राप्त कर सकता है।

किन्तु शान्ति यानी निर्वैर का उपदेशक नही योद्धा भी बना जा

सकता है। असल मे आज वही योद्धा चाहिये। योद्धा वह जो अपनी जान को तो हथेली पर ले अवश्य, पर दूसरे की जान को अभय देता हुआ आगे बढ़े।

पहले ही कहा कि शत्रु भय में से बनत है। जो निर्भय है वह अजात शत्रु है, उसे जाकर किसको मारना है ? पर जो भयभीत होकर उसे ही मारने के लिये आना चाहता है, उसको तो उसके भय से छुटकारा दिलाना है। इसलिये उसे शत्रु मानकर नहीं, बल्कि अपना भूला हुआ मित्र मानकर सच्चे योद्धा मे उससे भेंट करने की तैयारी चाहिए। तब स्वय मरकर शायद वह शत्रु की शत्रुता को भी मार दे। ऐसे ही शत्रु मित्र बनेगा।

भय-जात साहस भय-जात कायरता से तो अच्छा ही है। पर चूंकि दोनों भय-जात है इससे उनमें बहुत कुछ समता भी है। हिंसक लड़ाई मे दीखने वाला साहस एक प्रकार की कायरता ही है, और जब लड़ाई चल रही हो तो कायरता से बडा जुर्म कोई नही।

ब्लैक आउट जन-हित मे ही किया जाता होगा। पर उसमें सचमुच हित होता है यह सन्दिग्ध है। हिसाब लगाकर देखना चाहिये कि उससे कितनी जानें बचीं। बचने वाली जानें कुछ हों भी, पर यह सच है कि उससे सब लोगों में एक दहल पैदा होती है। उस दहल के नीचे सामरिक कर्मण्यता की स्फूर्ति भी पैदा होती होगी। इससे तबियत में हौल और शायद उस कारण वस्तुस्थिति की भयंकरता का आतक भी बढ़ सकता होगा। ये कि चारो ओर आशंका के बादल और शत्रु के षड्यंत्र है, कुछ ऐसी प्रतीति लोगो के मनों मे हठात् घर कर सकती है। सामरिक मनोवृत्ति को फैलाने और मजबूत करने के काम मे यह भारी मददगार क़दम है और उस दृष्टि से अवश्य उपयोगी है।

कहा जायगा कि मूर्ख के स्वर्ग मे आप रहिये। हम तो यथार्थता में रहते है। सच यह है कि दुश्मन है। हजारो जानें रोज़ जा रही है। और आप कहना चाहते है कि दुश्मनी भ्रम है ? दुश्मनी अच्छी बात

नही ये हम भी जानते है, पर कहने भर से वह मिट जाती तो बात ही क्या थी। इसलिए उसे हम स्वीकार करके ही चल सकते है। आप अर्धे हठ में मानते रहिये उसे अपना मित्र, पर वह आयेगा और आपको और आपकी मित्रता को पल भर मे स्वाहा कर देगा। नही, हम यह मूर्खता नही कर सकते। शत्रु आता है तो हम कहेगे कि आओ, यहाँ तुम्हारा महा-शत्रु बैठा है। यथार्थता से आख मीचकर मरा जा सकता है, ज़िन्दा नही रहा जा सकता। हम लोग ज़िन्दा रहने वालो में से है। इसलिए यथार्थता को पहचानकर हम उसके सामने की तैयारी मे सावधान होने से विमुख नही हो सकते। शत्रु ने फौज खडी की है, हम सवा फ़ौज बनायेंगे। हमारा बहरी बेड़ा और हवाई सेना और बम बारूद और तोप-टैंक सब उनसे बढकर होंगे। हम शान्ति चाहते है और सभ्य नागरिक है। पर शत्रु सभ्यता का दुश्मन है। वह बर्बर होकर हम पर चढने आता है। हम बता देंगे कि उसकी मनचीती होने वाली नही है। और ऐ लोगो, तुम भी मानवता की रक्षा के लिए कटिबद्ध खडे हो जाओ। छोड दो उन दो-चार को जो सपने लेते पडे रहना चाहते हैं। हमारी दया है कि हम उन सनकियों (Cranks) से नही बोलते। वैसे तो लड़ाई के वक्त बचने वालो की सजा मौत ही होना चाहिए थी। पर वे भोले है और मूर्ख है, आख खोले वे अधे है। अपने में मुह गाडकर आदर्श की बात करते है और यथार्थ को पहचानते नही। मत उनकी सुनो। दुश्मन बढ रहा है और हम दुश्मन को जीतेंगे। पर ऐ लोगो, तुम सबको तत्पर रहना चाहिए। दुश्मन तुम्हारे घर बार को, इज्जत को, सब को उजाड देना चाहता है, वह सब हडप कर जाना चाहता है। लेकिन तुम वीर हो—आन पर मर मिटोगे। पर भाइयो, सोचो, दुश्मन की तदबीरो को हम पहले से क्यों न हरा दें ? इसलिए ब्लैक आउट होगा। इसलिए गैस मास्क का इस्तेमाल सीखो और फौज में भर्ती होओ और रुपया जमा करो और अपनी कोरें भेजो और

यथार्थता ठीक है। उसको पहचानना होगा। पर वह यथार्थ होने

में आई कैसे ? आज का दुश्मन, दुश्मन कैसे बना ? आज लड़ाई है, सही। पर कल क्या बोया था कि आज लड़ाई का फल मिल रहा है, यह समझना भी क्या जरूरी नहीं है ? आज का आज हम पर आसमान से नही टपका, वह हमारे कल मे से बना है। इसलिए यह कहकर कि आज का यथार्थ ये है, हम उसकी परम्परा को ज्यो-का-त्यो कैसे चलने दे सकते है ? कल का फल आज भुगतना होगा, पर जो फल आने वाले कल के लिए चाहते है, उसका बीज क्या आज बो चलना जरूरी नहीं है ? इसलिए यथार्थ का तर्क ही सम्पूर्ण तर्क नही हो सकता । यथार्थ की यथार्थता के भीतर जायगे, तो देखेंगे कि विषफल को बेल को एक रोज़ तो समाप्त करना ही है। इसलिए यथार्थ से झुकना नही, बल्कि उसे संभालना है । नही तो शत्रुता के चक्कर से छुटकारा कैसे मिलेगा ? शत्रु के भय मे से शत्रुता की बेल हरी होती है। दनुजो की कथा मे सुनते है कि एक मरता था, तो उसकी जगह सौ हो जाते थे। इसलिए यदि कभी जाकर शत्रुता को इस धरती पर से मिटना है, तो उसे मिटाने का आरंभ आज ही कर देना होगा। यदि आज नही तो उसका आरम्भ कभी भी न हो सकेगा, क्योंकि यथार्थता का तर्क ज्यो-का-त्यो सिर पर लटका रहेगा।

मतलब यह नही कि 'शत्रु मित्र वदाचरेत्' कहकर हम उसकी खोटी लालसाओं को बढ़ावा दे । नही, हम प्रतिरोध करेंगे । अपनी आत्मा को बेचकर उसके भीतर के दानव को हम भोज्य नही देगे। अपनी आत्मा को सुरक्षित रखकर उसकी आत्मा को भी सुरक्षित करने का साधन करेंगे। वह अपने को भूल रहा है। वह फाड़ खाने को आता जो दीखता है, सो तो पागलपन है। शायद वह सताया हुआ है। जरूर किसी त्रास ने या भयने उसे ऐसा बना दिया है। वह उसकी असली प्रकृति नही, विकार है। अगर ईश्वर है तो उसमें भी है। पर हम अपनी ईश्वरता को उसके समक्ष करके ही उसकी असलियत यानी उसकी आत्मा को छू सकेंगे। उसके थप्पड़ के आगे अपना मुक्का करके वह काम नहीं किया

जा सकता। हा, थप्पड के आगे मुख किया जा सकता है। यह लाचारी के सबब नही, बल्कि खुशी के साथ किया जाता है, तो सन्देह नही कि उस थप्पड़ मे मारने वाले का गर्व कम हो जायगा।

ऊपर कहा गया है कि युद्ध के समय उपदेश बेतुका है। उस समय कर्म की उत्कटता चाहिए। अर्थात् यदि चाहिए तो शान्ति का उपदेश नही, शान्ति का कर्म चाहिए। और अहिंसा की माला नही, अहिंसा का युद्ध चाहिए।

जो मरने से डरता है, उसे कोई क्यो पूछे ? पर जो नही डरता उसे तो पूछना ही होगा। किन्तु निडरता कोई कर्महीन स्थिति नही है। वह कर्मठता के साथ ही टिक सकती है। हम निडर है, ये हमारे मानने का विषय नही। निडर हम तभी है जब दुनिया कहे कि हम निडर है। अर्थात् निडरता कोई अव्यक्त तत्व नही है, बल्कि व्यक्त प्रभाव है। व्यक्त नही तो उसका कुछ अर्थ नही। व्यवहार में निडरता ही सच्चे योद्धा का लक्षण है। हिंसक योद्धा उद्दण्ड हो सकता है। बल्कि किंचित् उद्दण्ड होना उसके लिए अनिवार्य है। क्योकि मूलतः हिंसक युद्ध की प्रेरणा एक गहरे हीन भाव Sense of inferiority में से आती है। दूसरे शब्दों मे उसकी जड मे आतंक या भय होता है। इसी से उसके फल में शेखी और उद्दण्डता देखने में आती है। अहिंसक योद्धा में वैसी सभावना ही नही। वह समभावी है। इससे वह ऐसा योद्धा है कि कभी किसी परिस्थिति में किसी के प्रति उद्दण्ड नही हो सकता। वह सदा सविनय है। पर इस्पात की तरह दृढ भी है। मौत तक उसको नही तोड सकती यों सबके आगे वह झुका हुआ है।

मेरी कल्पना है कि वीरता का आदर्श ऊँचा उठता जायगा, तो इसी जगह पहुँचेगा। वीर यदि क्रूर नही है, तो इसीलिए कि उसमें विवेक का मार्दव है। और इस जगत् में सच्चा वीर वही हो सकता है, जिसे इस जगत् के यश और वैभव में कोई आसक्ति नही, जो यदि योद्धा है तो

असत्य के खिलाफ, और आसक्ति है तो उस सत्य की जो प्राणि-मात्र की गहराई में स्थित है।

अखबारों के प्रचार से और 'ब्लैक आउट' के अभ्यास से और तरह-तरह की तैयारियों से जो तात्कालिक फल होता है वह यही कि हम में मौत का डर और सुरक्षा की चिन्ता समा जाती है। स्पष्ट है कि इस वृत्ति में से जो साहस उठेगा वह कृत्रिम साहस होगा। वह अपने विश्वास पर नहीं, बल्कि किसी के विरोध पर, यानी शत्रु की शत्रुता पर स्थापित होगा। इससे शत्रु के प्रबलतर साबित होने पर वह साहस टूटकर कातर भय को जगह दे रहेगा। और ऐसा ही देखने में भी आता है। हिंसक लड़ाई में एक हद तक ही सिपाही लड़ते हैं, फिर भाग रहते हैं, या हथियार डाल रहते हैं। ऐसा इसलिए होता है कि शत्रु को सामने रख कर ही वह साहस उपजाया जाता है। वह सीधा शत्रु के डर में से ही आता है। इससे शत्रु के हावी होने पर वह उड़ जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में निःशस्त्रीकरण की बात होती रही। पर अविश्वास से घिरकर निःशस्त्रता में हरेक को अपनी निर्बलता मालूम होती है। अपने को कोई निर्बल नहीं चाहता। भयभीत के लिए तो पलायन अथवा युद्ध ही उपाय है। सक्रिय विश्वास और प्रीति विस्तार में से ही निशस्त्रता का साहस आ सकता है। तब निशस्त्र होकर राष्ट्र निर्बल नहीं, बल्कि सच्चे अर्थों में बलशाली अनुभव करेगा।

बीच में कांटेदार तार दो पड़ोसियों के प्रेम को महफ़ूज़ नहीं बना सकता। यह बहस कि कांटे कितने पैने हों या कितने घने हों, व्यर्थ है। शस्त्रों की समगणना के आधार पर निःशस्त्रता नहीं आ सकी। न कभी आ सकेगी। और शस्त्र की व्यर्थता तो देख ही ली गई है। शस्त्र की दौड़ की कोई हद नहीं। बीच में अविश्वास है तो अधिक-से-अधिक शस्त्रास्त्र भी थोड़े मालूम होंगे। बराबर खयाल रहेगा कि अभी कुछ और चाहिए और निगाह रहेगी कि दुश्मन ने कितने बनाये हैं।

साफ़ है कि ऐसी हालत में एक देश या राष्ट्र दूसरी ज़रूरी बातों

के लिए, ज्ञान-विज्ञान और कला-संस्कृति के सवर्धन की चिन्ता के लिए खाली नही रह सकता। जो पड़ोसियो से अनबन मोल ले बैठा है, उससे नागरिकता के विकास मे क्या मदद मिल सकती है ? ऐसे ही जो चारो ओर शत्रुताओं से घिरा है, मनुष्यता के विकास में वह क्या सहायता पहुँचा सकता है ?

किन्तु इतिहास हम से क्या चाहता है ? हम जा किस लिए रहे हैं? मनुष्य जाति किस ओर बढ़ती आई है ? और किस दिशा में उसे बढते जाना है ? क्या वह दिशा परस्पर का बढता हुआ ऐक्य ही नही है ?

यदि वह ऐक्य है, तो हिंसा से उस ओर गति न होगी। हिंसा अपने फल मे हिंसा ही दे सकती है। और जब तक हिंसा के द्वारा राष्ट्र और राष्ट्र के बीच के सवालो का निपटारा देखा जायगा, तब तक मानना चाहिए कि वह सवाल कभी हल भी न होगा। और तो और घर में हम अपने तीन बरस के बालक से ज़ोर ज़बरदस्ती के आधार पर हार्दिक सम्बन्ध नही बना पाते। जब-जब हमने थप्पड़ का उपाय हाथ में लिया है, समस्या कसती ही गई है। तत्काल तो मालूम होता है कि मामला कुछ हल्का पड़ गया है, पर असल में गाठ उससे सदा कुछ गठीली होती देखी गयी है। बच्चे में अहम पैदा होने पर जब उसको जोर-जब्र से रास्ते पर नही लाया जा सकता, तो राष्ट्र का 'अहम' तो और भी व्यापक और ठोस वस्तु है। उसका उपचार फिर शस्त्रास्त्र के बल पर ठीक कैसे हो सकता है ?

कहा जायगा कि यह बाते तो ठीक है, पर ठंडक की है। अभी तो आग लगी है। ऐसे वक्त उनका कहना और सुनना जुर्म है। आग बुझनी चाहिए, तब दूसरी कोई बात होगी।

पर आग बुझनी चाहिए कि लहकनी चाहिए ? अगर उसे बुझना है तो ऊपर की बात न सिर्फ असंगत है, बल्कि वही एक सगत बात है। आग से अपनी जान बचाने तक का ही हमारा कर्त्तव्य नही है, क्योंकि भागकर जान बचाने का कोई रास्ता ही नहीं है। ब्लैक-आउट इत्यादि से

उनसे जान बच सकती है और बचानी चाहिए—इस तरह का भ्रम पैदा करने वाले प्रयोग हैं। वे एक तरह शत्रु की शक्ति की पुनः सूचना और उसके पूर्व निमंत्रण का रूप हैं। माना जा सकता है कि नगर में बसने वाले निर्दोष स्त्री-पुरुषों और बाल-बच्चों की रक्षा का किंचित् उपाय इस प्रकार होगा। पर सोचने की बात है कि उन निर्दोष स्त्री-पुरुषों पर आस्मान से हमला हो, यह स्थिति ही बनने में कैसे आयी?

हम सरकार को धन्यवाद दे सकते हैं कि उसे हमारे जान माल की रक्षा की चिन्ता है। वह शत्रु के हाथों हमें लुटवाना नहीं चाहती। उसकी फौज सरहद पर है और सब नाकों पर है और उसका सरकारी इन्तजाम सब जगह फैला हुआ है। सरकार हमारे देश की रक्षा करेगी। हम उसकी सुनें और उसके आदेश का पालन करें। ऐसे संकट के समय सचमुच हमें कृतज्ञ होना चाहिए कि सरकार की दृढ़ भुजाएं हमारी रक्षा को उद्यत हैं। हाय! सरकार न होती तो हम कहां होते? ऊपर के शत्रु के लिए तो खुले शिकार होते ही, भीतरी गुण्डे भी हमें क्षत-विक्षत किए रहते। दुहाई है कि सरकार है और हमें उसकी सुरक्षा में ब्लैक आउट के प्रयोग की शिक्षा मिल रही है।

सिर पर आ गई स्थिति को देखते सरकार की छत्र-छाया निश्चय ही हमारे लिए परम सन्तोष का विषय हो सकती है। पर हमने क्या किया है कि पश्चिम का कोई देश हमारा दुश्मन बने? पश्चिम की लड़ाई पूर्व में क्यों आ गई है? यह तो ठीक है कि पश्चिम और पूर्व दो नहीं हैं। पर पूर्व का यह भारत क्यों आज अपने ही निर्णय से लड़ाई में कुछ मदद करने में असमर्थ है? संकट इस पर इसी से तो है कि यह एक पश्चिम के मुल्क के साथ नत्थी है और उसकी शत्रुता-मित्रता को ओटने के लिए लाचार है। स्थिति विषम है, पर क्यों वह हिन्दुस्तान के बावजूद हिन्दुस्तान के लिए भी विषम है? ठीक है कि हिन्दुस्तान के व्यवस्थापक आज उसकी चिन्ता से चौकन्ने हैं। पर क्या यह भी उन व्यवस्थापकों की ही करनी नहीं है कि वह आज आत्म-निर्णय में असमर्थ है और

कि वह अन्तर्राष्ट्रीय गीधों की निगाह में सिर्फ सस्ता शिकार बन गया है? आज यदि यह स्थिति है तो उसका कारण ढूढ़ना होगा। उस कारण के लिए हम अपने व्यवस्थापकों से बाहर कहाँ जाय ? ब्लैक-आउट और इस प्रकार के दूसरे हितोपायो के लिए जिस सरकार के हम कृतज्ञ है, उसी सरकार के पास हम आज की स्थिति का यह अभियोग भी ला सकते है।

कौन जानता है कि हिन्दुस्तान की मिल्कियत ने इङ्गलैंड को पश्चिम को दूसरी सशक्त राष्ट्र-नेताओ के लिए और लोभनीय ही नही बनाया? इङ्गलैंड को मौका था कि हिन्दुस्तान को वह अपनी सम्पत्ति न मानकर अपना साथी बनाता। मित्र हिन्दुस्तान इङ्गलैंड के बल को मजबूत करता। पर हिन्दुस्तान इङ्गलैंड के लिए परिग्रह रहा। इङ्गलिस्तान का यह भोग्य रहा। उससे इङ्गलिस्तान के चरित्र पर धब्बा लगा और हीनता आई। उसमें साम्राज्य-लिप्सा पैदा हुई। इसी से दूसरे मुल्को की आंखों में वह कांटा बना। हिन्दुस्तान उसकी इस वृत्ति से शक्ति और पौरुष से हीन बना। क्या अचरज कि वह और सत्ताओ के मुंह मे पानी आने का कारण बना।

ऐसे आज यह हालत बनने में आई है कि सरकार को कहने का मौका मिलता है कि हिन्दुस्तान खतरे में है और हिन्दुस्तान भी महसूस करता है कि वह खतरे में है, कि जब ब्लैक-आउट होते है और लोग सोचते है कि उनका होना कल्याणकारी है। लोग अपने को असहाय पाते है और इस तरह सरकार की थोडी-बहुत जितनी है उतनी ही-सी शस्त्र-शक्ति को दुहाई देते है। सरकार को इस तरह अपना समर्थन प्राप्त होता है। पर हम चाहते है कि उस समर्थन के भीतर ही जो एक निश्चित अभियोग है वह भी सरकार को प्राप्त हो और सरकार जान ले कि जिस संकट से रक्षा देने का काम वह अपना बतलाती है, उस संकट को सिर पर लादने का जिम्मा भी उसी का है।

हिन्दुस्तान का इस्तेमाल करने की इङ्गलैंड की बुद्धि आज संकट के

समय कुछ शुद्ध हो सकती थी। वह हिन्दुस्तान के हृदय को पाने की ज़रूरत इस समय महसूस कर सकती थी। पर उसने मन नहीं चाहा, धन चाहा। मैत्री नही चाही, सिर्फ लाभ चाहा। आत्मा नहीं मागी, उसके शरीर पर ही आंख रखी। इससे इङ्गलैड का नैतिक पतन हुआ और हिन्दुस्तान का भी। इससे साम्राज्य नाम का एक दम्भ खड़ा हुआ। कामनवेल्थ शब्द के नीचे उस दभ के ढकोसले को छिपाया नही जा सकता। सफेद जाति का वह दभ उसके लिए भारी पड़ रहा है और पड़ेगा। यह विधान शासित और शासक दोनों जातियों को अमनुष्य बनाता है। दोनों उससे गुलाम बनते है। शासक इद्रियों का गुलाम और शासित उस गुलाम का गुलाम बनता है।

भारतवर्ष के शासक भारत को भारतीय बनाये होते, तो आज शायद उन पर और भारत पर सकट का दिन भी न आता। भारत स्वाधीन होता और सशक्त होता। और मनुष्यता की राह पर तब वे दोनों एक दूसरे को और शेष दुनिया को चलाने मे सहयोगी होते। ऐसा होता तो इङ्गलिस्तान की नैतिक साख असदिग्ध होती। भारत का संस्कृति-बल और धन-जन बल मिलकर विलायत की बड़ी-से-बड़ी पशु-शक्ति के निकट अविजेय होता। तब क्या आज की लड़ाई होती ? या होती भी तो क्या टिक सकती ?

पर वह होना न था। दुनिया को बुरे दिन देखने थे और आदमी मे अभी तृष्णा का राज था। शायद साम्राज्य बनाने और बढाने वाले अंग्रेज ने बहुत आगे नही देखा। उसने शायद समझा कि वह अपनी जाति का यश-विस्तार कर रहा है। ऐतिहासिकों ने उसे इस भ्रम मे मदद पहुचाई। साहित्य ने बढ़ावा दिया। 'साम्राज्य' पर विलायत को और विलायती को गर्व हुआ। उसने न जाना कि ईश्वर के इस जगत् में आदमी का गर्व खर्व होता है। वह मोह मे धर्म को भूल गया। और विधाता की लीला को कौन जानता है ? कौन जानता है कि सफेद और काले आदमियों के सचित पापो का ही यह प्रतिफल नही है ?

किन्तु फल सामने फूटा है, तो वही से हम अपने तर्क का आरभ न करे। बम ऊपर से गिरेगा तो हम किस तहखाने मे डुबकी मारकर बचेंगे, हमारे सोच विचार के लिए कोई यही विषय नही। आदमी की बुद्धि को आसन्न खतरे से घेरकर मूल प्रश्न पर विचार करने के लिए असमर्थ ही बना दिया जाता है। ब्लैक-आउट इत्यादि लोक-मानस पर ऐसा ही आतक मय असर डालते है। जैसे अपनी जान बचाने से बड़ा कोई तत्काल धर्म हमारे लिए है ही नही। आज लोक-मानस कुछ उसी वृत्ति से त्रस्त है। घर-घाट और हाट-बाट की चर्चा सुनिए, सब कही वही एक प्रश्न है कि कौन कैसे बचे ? हवा ऐसी सक्रामक है कि बिरला उससे अछूता बचता है। मन खोखले हुए जा रहे है और चारो तरफ अविश्वास बढता जा रहा है। वैश्य सकट में अपने बचाव की सोच रहा है, तो गुण्डा अपने मौके की सोच रहा है। साम्प्रदायिक और राष्ट्रीय और श्रेणीगत अविश्वास तीखा पड रहा है और जान पडता है कि ऊपर से सरकारी शक्ति का ढकना ढीला हो कि भीतर से वह अपना गुल खिला आये।

ऐसे समय सही बुद्धि और अहिंसक कर्म की बहुत आवश्यकता है। अहिंसक कर्म धन का और सत्ता का विकीरण करता है। उनके केन्द्रीकरण पर बसे हुए बड़े-बड़े शहर जो दुश्मन के लिए प्रलोभन होते है— अहिंसक कर्म से वे बिखरेंगे। वैसे कर्म से गांव बसेंगे और उनकी खुशहाली बढ़ेगी। लाखो खुशहाल और स्वाधीन गावो वाले हिन्दुस्तान को किसी दुश्मन से किसी डर की जरूरत न रहेगी। गांवो पर बम डालना पैसे के लिए अशर्फी बर्बाद करना होगा। और कोई मूर्ख नही जो यह करेगा। तब सोशल इकानामी (Social Economy) का ढांचा ही दूसरा होगा। तब सत्ता का इस मुट्ठी से उस मुट्ठी मे आ रहने का सवाल ही न रहेगा। क्योकि तब वहा किसी की बधी मुट्ठी हो ही न सकेगी। दुश्मन तब कोई होगा भी, तो वह उस सोशल इकानामी मे जज्ब हो जायगा, क्योकि उसके पास कोई साधन न होगा कि वह उसको तितर-बितर कर सके। वह पहले ही ऐसी छितरी हुई होगी कि उसका केन्द्र

हर जगह होने के कारण कहीं नहीं होगा।

कहना कठिन है कि ऊपर जो बादल आये हैं, बरस कर वह क्या कहर बरपा करेंगे। पर यह निश्चय है कि कभी मानव जाति को अगर संगठित शक्ति के त्रास से छुटकारा मिलेगा, तो तभी जब प्रत्येक व्यक्ति पर्याप्त शारीरिक परिश्रम करने वाला होगा। जब कि उपज और खपत, और श्रम और पूंजी के बीच इतना फ़ासला न होगा कि बीच में बटाव के लिए किसी तीसरी बुद्धि या शक्ति की जरूरत हो। जब आर्थिक समस्या न्यूनतम हो जायगी और मनुष्य की समस्या नैतिक और आध्यात्मिक ही हुआ करेगी। जब आर्थिक अभाव नहीं, बल्कि हार्दिक सद्भाव मनुष्य को चलाया करेगा।

: १६ :

दही और समाज

गर्मियो के दिनो में दूध अच्छा न्ही लगता है दही अच्छा लगता है। साथ ही खाना अच्छा नही लगता, पीना अच्छा लगता है। इससे सवेरे-शाम जो दूध आता है सो जमा दिया जाता है। फिर उस जमे पदार्थ को पीने लायक बनाने के लिए उसमें कितना ही पानी डालना जरूरी है।

एक रोज श्रीमती ने दूध-वाले को ऐसा सुनाया कि क्या पूछिये ! कहा कि दूध लाते हो या तमाशा करते हो ? दूध में उगली डालकर, फर्श पर बूंद टपकाकर दिखाया कि यह दूध है, या पानी है ?

दूध वाले ने नम्रता से कहा कि अजी दूध तो खालिस गाय का है।

श्रीमती ने सूचना दे दी कि और दो-चार रोज देखते है। दूध ऐसा ही आया तो दूसरे से लेना शुरू कर देंगे।

मैने भी देखा कि दूध एकदम तरल है। बहाओ तो बह जायगा, छलकाओ तो छलक जायगा। पर शाम ,के इसी-दूध को देखा तो सवेरे चकत्ता जमा हुआ है। हडिया को हिलाते है, डुलाते है, पर उस पत्थर से जमे दही में कंप-कपी भी नही होती।

अब लोग है जो कहते है कि अजी अकेले भला क्या किया जा सकता है। चना अकेला भाड़ का क्या विगाड़ेगा ? एक के बदलने से क्या होता है। बदलनी तो दुनिया है। समाज नही बदले, और परिस्थति नही बदली, और मूल्य नही बदले तो किसी एक अकेले के अपने को बदलने की कोशिश

करने से क्या होना जाना है। अजी साहब, समाज-व्यवस्था का ढाचा ही बदलना होगा। व्यक्ति जो अपने को बदलता, और इसलिए अपने बदले जाने मे जो संतोष मानता है, भ्रम मे है। यह तो कूप-मडूकता है। आपने खद्दर पहन लिया, चरखा चला लिया, और समझ बैठ कि शोषण आपने दूर कर दिया। बस पूजीवादी जीवन-नीति का यही ढकोसला और यही छल तो है। धर्म कर लिया और मन को बहला लिया। लेकिन साहब, व्यक्ति इस तरह अपने को बदलता और चैन मानता है तो इससे यही बड़ा नुक्सान होता है कि उस व्यक्ति में जो सामाजिक असंतोष होना चाहिए वह नही रहता। प्रगति की सभावना उसमें से नष्ट हो जाती है। वह गऊ-भगत बन जाता है। पूजीवादी विधान को अनजाने वह मजबूत करता है। यह जो आपकी अपरिग्रह और अहिंसा है न, इसमे यही खतरा है। आदमी अपने सुधार के चक्कर मे पड़ जाता है और समाज को अनसुधरा रहने देता है। धर्म की व्यर्थता यही तो है। बताइये भला कि व्यक्ति की भी कोई सत्ता है। व्यक्ति परिस्थितिओ की उपज है। आप उससे बाहर निकल ही नही सकते। धर्म की बात और आत्म-सुधार की बात तो बचाव जैसी है। सामने कर्तव्य की चुनौती है और आप धर्म में मुंह गाडते हैं। चाहिए तो यह कि क्रान्ति की तैयारी करें, और आप भलाई सिखाने की सीख देते हैं। बुरे विधान के नीचे भला होना सम्भव ही नही है। भले बनने की कोशिश पहले ही से बेकार है। वह बालक के अंगूठा चूसने जैसी है। अपने अंगूठे में रस लेते रहिए और बाहरी जगत् के लिए मूढ बने रहिए। जी नही, व्यक्ति नही बदल सकता। समाज बदले तभी व्यक्ति के बदलने की संभावना है।

पूजीवादी समाज-व्यवस्था से बेहद क्रुद्ध एक साथी मिले। साथी थे, इधर आठ—एक बरस से साथ छूट गया था। क्रान्ति की लगन उनमें पहले से कम नहीं पाई। पूंजीवादी विधान के प्रति क्रोध कुछ अधिक ही उत्क्रुद्ध दीखा। पहले गांव-गांव डोलकर किसानों का काम करते थे। लेकिन शायद उन्होंने पा लिया कि ऐसे कुछ न होगा। असल चीज पूंजी-

वाद है। उस पूजीवाद से खुद उसके अस्त्रो से ही लडा जा सकता है। पूजीवाद की जगह समाजवाद चाहिए। समाजवाद के प्रचार के लिए पूजी चाहिए। इसलिए समाजवादियो को पहले पूजी बनानी होगी, तभी पूंजी और पूजीवादियो को चुनौती दी जा सकेगी। साथी समझदार थे, और समझकर उन्होने यह सत्य पाया और गाठ बांध ली। अब देखता हूं कि एक इश्योरेन्स कम्पनी के प्रधान आर्गनाइजर है।मोटर उनके पास है। दूसरे दर्जे मे सफर करते है। उनसे मुझे मालूम हुआ कि क्रान्ति होगी, और जल्दी होगी। गांधीजी का चर्खा उसे नही रोक सकेगा। उन्ही से यह मालूम हुआ कि समाज बदले तभी व्यक्ति बदल सकेगा, और कि उन दिनो गाव-गाव भटककर उन्होंने अपनी जिन्दगी बरबाद की थी। अब देखिये कि कोई चार दर्जन अपने कार्य-कर्त्ताओ को मैंने काम से लगा दिया है। नाम कम्पनी का, काम समाजवाद का। साथी अब खुद किसी लायक अपने को पा रहे है। पहले क्या था? पूजीपतियों के हाथ की कठपुतली ही हम थे। अब पूजीपतियो के घर में दाखिल होकर अन्दर से सेंध लगा सकते है। पांच सौ माहवार मिलते है, मोटर मकान का भत्ता अलग। अब पूजीपति नही कह सकता कि हम कुछ नही है।

बोले, आप कहेगे कि मै समाजवादी नही हूं। तो मैं कहूगा कि आप समाजवाद जानते ही नही। भाई, दुनिया आदर्श नही है। चलना चलने के ढग से होता है। समाजवाद मे खूबी है तो यही कि वह व्यावहारिक आदर्श है। पहले भी तो मै ही था। गाधी के नाम पर नंगे पांव गांव-गाव डोलता फिरता था। पर उससे क्या हुआ—मैंने क्या पाया? दुनिया ने क्या पाया? अब देखिए कि मै कुछ हूं, और दो चार का भला कर सकता हू। समाजवाद यही कहता है कि निजी आदर्श के फेर में न पडो। तुम आखिर क्या कर लोगे? रेल है, डाक है, तार है, पैसा है। इन सबके ऊपर सरकार है, तब तक और भी सब कुछ उसके मुताबिक है। काम असल है उसको बदलना। उसके लिए फिर ताकत चाहिए।

इसलिए हमारा प्रोग्राम पहला हो सकता है Capture of power-फिर जो काम बरसों मे न हो, वह क्षणो मे होजायगा।

मेरे साथी मित्र बढ़ गये है। भगवान उनका भला करे। लेकिन शाम का पानी-सा दूध यह जो सवेरे अचक पत्थर-सा हो गया है, सो कैसे ?

पर आदमी की बात के बीच ये दूध-दही प्रक्षिप्त विषय है ? आये दूध, कृपा होगी, और पी लिया जायगा। गर्मी के दिन है तो दही मथकर लस्सी ले आई जाय। तब उसके साथ न्याय किया जायगा। पर चर्चा वास्तविक यह है कि आदमी अकेला क्या कर लेगा ? हरिश्चन्द्र ने सत्यवादी होकर क्या कर लिया ? युधिष्ठिर धर्मराज होकर हिन्दुस्तान को कौन तार गये ? और हिमालय की कन्दराओं में जो ऋषि महात्मा सुने जाते है उन्होंने हमारा कौन दुख हर लिया है ? बास अपनी जगह लम्बे-से-लम्बा होजाय, तो क्या इसी कारण उसके आगे सिर झुकाये, और अपनी बुद्धि को गवा दे ?

बात पक्की है। समुद्र में बूद क्या बनाये ? शर्बत की बूद डालिए, समुद्र क्या मीठा हो जायगा ? वह बूंद सोचा करे कि मेरा मिठास समुद्र को मीठा कर रहा है। पर वह विचारा नही जानती कि समुद्र के खारे-पन के बीच उसका मिठास निरी व्यग है। वह अपने को मीठी जानती है तो अपने को नही जानती।

बात कुछ ऐसे फौलादी तर्क की है कि जवाब नही बन सकता। इसलिए अगली शाम जब दूध आया और गर्म करने के बाद जमाया जाने लगा तो मैंने श्रीमतीजी को पकड़कर कहा, 'सुनो जी, बताओ, तुम किस जादू से पानी-दूध को चकत्ता दही कर देती हो।'

श्रीमती ने कहा, मजाक का वक्त तो देखा करो ! छोड़ो, मुझे काम करने दो।

मैंने स्त्री की मति पर चाहा कि माथा ठोक लू। यहा गहन जिज्ञासा है और यह ठठोली समझती है। उन्हे कब पता चलेगा कि उनसे बाहर

भी कुछ दिलचस्पी के लिए हो सकता है। बेशक किन्ही (विशेष कर हमारी) श्रीमती का माहात्म्य कम नही है। उनके कारण मैं पति और पिता बनने के अनंतर निकम्मा तक बना हूं। लेकिन···खैर, उत्तर में मैंने कहा, 'ठठोली न जानो, सच बताओ कि तुम यह करती क्या हो ?'

इस बार उन्होंने हसकर कहा, 'अच्छा, अच्छा, बस मुझे यह दही जमा लेने दो।'

मुझे उनके हंसने पर बडा गुस्सा आया। क्या मैं कोरा पति ही हूं, तात्विक बिल्कुल नही हूं ? मैंने कहा, 'सुनो जी, तुम्हारी नही, दही की बात है। दही कैसे जमता है ?'

बोली, "देख लो, जमा तो रही हूं।"

मैंने देखा। देखा कि वह अन्दर से चिपिया में रखा जामन लाईं। जामन यानी दही की फुटक। दूध था ढाई सेर। दही की मात्रा इतनी कि एक फूक मारो तो हजरत हवा में हवा हो रहे !

श्रीमती जी उस दही को उगलियों पर लेना ही चाहती थी कि मैंने झपटकर उस चिपिया को छीन लिया। कहा, 'ठहरोजी, गजब किये डाल रही हो !'

श्रीमतीजी ने प्रसन्नता दाबकर कहा, 'यह तुम्हे कभी क्या हो जाता है !'

मैंने मन में कहा कि हाय, दही से या दुनिया की किसी चीज से कोई श्रीमती अपने को बढकर मानना क्या कभी नही छोड़ सकेंगी ? सचमुच, क्या कभी भी नही ?

बोला, 'देखो, आज एक पुराने साथी मिले थे। समाजवाद का तुमने नाम सुना होगा। पर तुमने क्या सुना होगा, वह गहरी चीज है। उन मित्र ने उसकी थाह ली है। वही आज मिले। इसीसे तो कह रहा हू कि तुम आज दही नही जमाने पाओगी। पहले मुझे तुम अपना जादू समझाओ।···अरे नही, आंख का जादू तो मै जानता हूं। नही-नहीं,

वह जादू आँख में लेके मुझे न देखो, दुहाई तुम्हारी। आज तुम दही न जमाओ। मुझे बताओ—मै जमाऊंगा।'

यहां जरूरी है कि श्रीमती की कथा को बाद दे। वह घर की निजी बात है। परिणाम भर कह दे। सो यह कि श्रीमती का अभाव पाकर चिपिया मे बैठे उस नन्हे-से दही से मैंने सीधी बात-चीत शुरू की। कहा, 'हजरत, सच कहिए कि वह आप है, जो इतने दूध को कुछ घंटे मे दही कर देते है ? यूं तो आप पर मुझे तरस आता है। क्या तो जनाब की हैसियत ! क्या डील-डौल ! वल्लाह ! लेकिन श्रीमती कहती है कि यह उनकी सिफत नही, आपका तूफैल है। यकीन तो मै क्या कर सकता हू । तो भी मौका है कि आप अपनी कैफियत दें'

दही साहब कुछ नही बोले। ऐसा मालूम हुआ कि शरम के मारे वह कुछ और सफेद पड़ गये हैं।

मैंने कहा 'घबराइये नही। श्रीमतीजी के अलावा मै किसी से बेजा सलूक नही करता। कुछ गुन हो आप में तो वैसा कहिए। और जो नाहक गुनहगार आपको माना जाता हो तो वह साफ कह दीजिए। तब आपको दूध के अन्दर नही डाला जायगा, बल्कि आराम के साथ पानी मे तैरा दिया जायगा।

दही महाशय इस पर भी गुम रहे तो मुझे तैश आया। मैंने कहा कि 'देखिए जनाब ! आपकी नन्ही-सी जान है, इसलिए इस बार आपकी गुस्ताखी माफ करता हूं। आप तो हो सकते हैं नाचीज़, लेकिन मेरे सामने गहरा सवाल है। इसलिए मैं आपसे सच्ची कैफियत चाहता हूं। बयान कीजिए कि किस तरह इतने दूध को आप दही की शक्ल देने के इरादे रखते हैं।'

आखिर मेरी धमकियों से हजरत को चेत हुआ। पर वह कुछ बोल नही सके। डबडब पानी भर लाये।

मैंने कहा—'ए भाई, यो पानी क्यों होते हो ? घबराओ मत। बेकसूर हो तो एकदम कह दो। मुझे तुम्हें दूध में फेंकने की जिद नहीं

है। तुम्हारे कहने की देर है कि तुम बरी। तब श्रीमती को कहूँगा, इस बिचारे दही पर अपनी बला क्यो टालती हो। जादू तुम में है, और खता इस बिचारे दही की बताती हो। बात यह है कि भाई, कि बिखरी समाज को हमें ठोस शकल देनी है। अब उस उसूल की ज़रूरत है कि जिससे यह काम हो। मुझे एक शास्त्र के शास्त्री ने ज्ञान दिया है। इसलिए मैं तो जानता हू कि तुम्हारी अदना हैसियत में वह दम क्या हो सकता है। यकीनन श्रीमती के हाथो की सिफत है। उनके हाथ का ज़ोर जानता हू। बच्चे के गाल पर पड जाता है तो आध घटे तक दूसरी तरफ का गाल लाल नजर आता है। उस हाथ की पावर की करामात से ही दूध ठोस बन सकता होगा। क्या मै चारों तरफ पावर पोलिटिक्स देखता नही हू। करामात जहाँ है, ताकत की है। 'पाओ ताकत' (Captuie of power) से दूसरा सिद्धांत इस दुनिया में हो क्या सकता है। पर मै जानता हू श्रीमती का छल। अपना बल मेरे हाथों आने देने वाली वह नही है। तभी तो तुझ बिचारे को मेरे आगे कर दिया है। कह गई है कि सब करनी तेरी है। घबरा नही, भाई। पानी-पानी मत हो। तेरी शकल से देख रहा हू कि तू हीन है। तुझमे कुछ नही है। कहां है तुझमें शक्ति ? तू क्या जानता होगा Will power बगैर विल Will कभी कुछ होता जाता है ? भोले लोग है जो ईश्वर को मानते हैं। पर लो, तुझसे भी मैं क्या कहने बैठा हूं। पानी हुआ पत्ते पर ढरता तो तू जारहा है। तू विचारा क्या समझेगा। अब कह दे भाई ! ताकि मैं तुझे छुट्टी दूं और श्रीमती को बुलाकर कहूं कि ओ जादूगरनी, ले यह दूध, और कर दे इस पानी को अपनी शक्ति के जादू से पत्थर। सुना भाई, तू सब कबूल दे और तुझे छुट्टी है।'

आखिर बात शास्त्रीय ही सच निकली न ! मुझसे खरी-खरी सुनी तो दही गिडगिडा आया। मेरे देखते-देखते वह कांपा, हिला और आँसू की भाँति पत्ते से बह निकला। आले मे रखे पत्ते पर से बहती वह धार फ़र्श पर टपटप टपकने लगी। मुझे बेहद करुणा आई। मैंने उससे क्षमा

माँगी। कहा कि भाई, मेरा तुम कसूर न मानना। पत्नी नाम की स्वामिनी जो मेरे ऊपर है, वही अपने को बचाकर तुझे मेरी हिरासत में दे गई है। लेकिन तू निर्दोष है, यह मैंने अच्छी तरह देख लिया है।' ले भाई, मुझे क्षमा कर और अब तू जा।

यह कहकर आँसू की धार मे टपटप टपकते उस दही के पत्ते को आहिस्ता से मैंने अपनी मोरी मे छोड़ दिया। वह पत्ता कृतज्ञता में भीगा मोरी के पानी को लहरो पर नाचता हुआ चला गया।

मै अपने से खुश था। निर्दोष को बन्धन-मुक्त करने की खुशी कैसी होती होगी, इसका मैं तब अनुभव कर रहा था। कि हाय, तभी आ पहुँची सिर पर श्रीमती! बोली,'अब तक क्या हो रहा है? तब से दूध नहीं जमा?'

मैंने कहा, 'जादूगरनी तुम हो!

बोलीं, "क्या हो रहा है तुम्हें आज?"

मैंने कहा, 'छोड़ो, तुम नही समझोगी। आज शक्ति को मैंने पहचाना है। लोग जानते होंगे कि दही दूध को जमाता है। पर वे तुम लोगों को जानते नही। राज्य शक्ति से चलते है, क्रान्ति शक्ति से होती है, और दूध शक्ति से जमता है। तुम जादूगरनी हो। लो, यह दूध जमाओ।'

मेरे आकस्मिक बोधोदय और मोहावेश को किंचित् मंद बनाकर वह बोलीं, "दही का पत्ता कहाँ है?"

मैंने कहा, 'क्यों मुझे छलती हो, रानी? यह सब तुम्हारी ही माया है। दही को तो मैंने छुट्टी दे दी है।'

बोली, "तुम्हारा सिर! सच बोलो, दही कहाँ है।"

लेकिन मै तो शास्त्रीय रहस्य को पा गया था। इससे मग्न भाव से श्रीमती की क्रीड़ा देखता रह गया।

जितनी वह झल्लाईं, उतना ही उनके शक्ति के जादू में मेरा विश्वास अटल होता गया।

बोली, "अब इस वक्त कहाँ से मै जामन लाकर पटकूं। मेरे करम

फूटे है। बताते क्यों नही कि इस वक्त कहाँ से जामन आयगा ! दही क्या अपने सिर से जमा दू !"

किंतु उनके समस्त रोष को मग्न भाव से मैने ग्रहण किया। कहा, "जो कहो, आधी रात करने को मैं तैयार हूँ। जामन के नाम पर जो मंगाती हो वह यह लाया। पर जामन बिचारा कुछ नही है। सब तुम्हीं हो, क्योकि शक्ति हो। शक्ति ही सब है।"

श्रीमती ने कहा, "इतने बड़े होगये फिर भी तुम्हे .."

पर हाय, श्रीमती जादूगरनी हों कि देवी हों, स्त्री तो है ही। इससे वह क्या जाने। अपने ही अपने को वह तो देख सकती है। पर मैं तो एक महा रहस्य की बात जान गया हूँ। वह यह कि दही की एक फिटक सेरो दूध को नही जमाती। यह तो श्रीमतियो की छलना है कि लोग ऐसा समझते है। लोग तो ऐसा भी समझ लिया करते है कि अमुक एक आदमी ने इतिहास बदल दिया, या अमुक ने एक नया युग ला दिया। पर वह तो सब कहने की बात है। न दही दूध जमाता है न व्यक्ति समाज बनाता है।

समाज का शास्त्र है तो समाज की असलियत समाज मे नही शास्त्र में है। उस शास्त्र से सिद्ध है कि घर वाली घर के दूध को अपने हाथके जोर से जमाती होगी। भावार्थ पहले सब कही जोर को हाथ में लेना होगा। चाहे बात घर की हो, सभा की हो, समाज सरकार की हो। सत्ता लिये बिना कुछ न होगा। लेना, यानी छीन लेना। वह जबरदस्त काम छल के बल, या बल के छल से ही हो सकेगा। हमारी श्रीमती में जरूर छल है, यही तो बल है। इसी से तो उनके आगे दूध बिचारा दही कैसे न हो रहेगा !

खैर, श्रीमती की बात रखने को जामन मैने ला दिया। पर मै जानता हू कि जामन का नाम था, काम तो श्रीमती का था कि दही जैसा कल मिला, वैसा आज मिला, और आगे उन छल-बल-शालिनी की मुझ पर दया-माया रही तब तक मिलता रहेगा।

: १७ :

धर्म-युद्ध

युद्ध कलह या झगड़ा नही है। वह झगड़े से कुछ गहरी चीज है। झगड़ने वाले दया या क्षमा कर सकते है। युद्ध में ऐसी भावनाओं के लिए जगह नही।

युद्ध को मै जीवन की शर्त मानता हूँ। जीवन युद्धमय है। यो भी कह सकते है कि जीवन का धर्म, निरन्तर और अनवरत युद्ध है। अद्वितीय धर्म पुस्तक गीता का आरम्भ 'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे' से होता है। कुरुक्षेत्र यानी कर्मक्षेत्र, यानी युद्धक्षेत्र। धर्म का भी उससे कोई अलग क्षेत्र नही है। कर्म के मध्य ही धर्म की साधना है। कर्ममात्र बारीकी से देखे तो युद्ध रूप है। इसी से कर्तव्य-शास्त्र, यानी नीति-शास्त्र, विधि-निषेध युक्त होता है। इसी से फिर कर्म में सत्कर्म और दुष्कर्म, पुण्य कर्म और पाप कर्म की कोटियाँ बन गई है।

किन्तु झगड़ा युद्ध से भिन्न है। झगड़ा व्यक्ति और व्यक्ति-समूहों मे होता है, और अहंकार वश होता है। युद्ध दो तत्वो के मूल द्वंद्व का नाम है। पाप और पुण्य और सत् और असत् के युद्ध मे कोई किसी पर दया नही कर सकता। दो तत्वों के संघर्ष के बीच उस प्रकार की भावना नितांत असंगत है। झगड़े में न केवल मानवी भावना को स्थान है, बल्कि उन्ही भावनाओं की अपेक्षा झगड़ों का शमन अथवा दमन हो सकता है। इस दृष्टि से युद्ध को बारीकी से समझने की आवश्यकता है।

दो पड़ोसी आपस मे लड़ पड़ते है तो मुहल्ले के लोग मिलकर

उनका बचाव कर देते हैं। मुहल्ले वाले आपस मे दल बाँध कर लड़ पड़ें तो पुलिस बीच मे आ जाती है। दो सेनायें भिड़ पड़ती हैं, तो राज-नेता सधि कराने की कोशिश करते हैं। लड़ने वाले लड़ाई को ज़रूरी मानते हों, लेकिन जो उनके पक्षों को लेकर आवेश में नही आ गया है, वह उनकी लड़ाई में मदद नही करेगा। वह तो उसके कारणों को दूर करने की कोशिश करेगा और दोनो दलों मे मेल करा देना चाहेगा।

सत् और असत् मे मेल नही हो सकता। पर 'अ' और 'ब' में, हिन्दू मुसलमान मे, हिन्दुस्तान और विलायत मे, मित्र देशों और धुरी राष्ट्रों मे समझौता हो सकता है।

अर्थात् जिसको धर्म-युद्ध न कहा जा सके उसे कलह ही मानना चाहिये। कलह के नीचे स्वार्थ रहता है या बहका हुआ अहंकार रहता है। अहकार व्यक्तिगत ही नही होता साघिक भी होता है; जातियो, राज्यो, देशो और राष्ट्रो मे भी अह भावना उद्दीप्त हो रहती है। तरह-तरह के साहित्य से उसे पोषण मिलता है। उसे हक, सत् और न्याय का नाम मिल जाता है। राष्ट्र फैलकर साम्राज्य बन उठते हैं। उनके अलग स्वार्थ खड़े होते हैं। राष्ट्रीयता का यह फूला हुआ रूप साम्रा-ज्यवाद है।

ऐसे सगठित स्वार्थों और अहकारो के झगड़ो को इतना ऊँचा धरातल मिल जाता है कि मानो वे धर्मयुद्ध ही हो। करोड़ो आदमी एक तरफ एक आवेश से भर जाते हैं जब कि दूसरी तरफ उसी तरह के करोडो आदमी उसके विरोधी भाव से अपने को भर लेते हैं। दोनो को पक्का भरोसा रहता है कि उनका पक्ष न्याय का और ईश्वर का है जब कि प्रतिपक्ष शैतान का है।

केवल बडे और बहुत फैले हुए होने से किसी कलह को युद्ध कह देना स्वाभाविक है। किन्तु यदि हम इसे भाषा का प्रमाद मानें तो लड़ने वालो की गिनती करोडों में जाने के कारण मै किसी कलह को युद्ध कहना पसन्द नही करूंगा।

इस दृष्टि से वे सब राजनीतिक युद्ध जो किसी अमुक तिथि को होते हैं और कुछ नर-मुण्डों की बलि लेकर अमुक तिथि को बन्द हो जाते है, मेरे लेखे असल युद्ध नही है। धर्म-युद्ध सतत होता है, अनवरत होता है, और एक तरह अनन्त भी होता है। उसका अन्त मुक्ति से इधर कही भी नही। उसमे बीच मे संधि द्वारा आराम भी नही है। गीता का युद्ध मेरी समझ से वही युद्ध है। अठारह दिनों तक पांडवो और कौरवों के बीच तीर और तलवार से लड़ा जाने वाला युद्ध गीता का इष्ट नही उपलक्ष्य मात्र है।

प्रश्न होगा कि यह तो शब्द की बारीकी मे ले जाकर जीवन की सामान्य भाषा से युद्ध को विच्छिन्न ही कर देना हुआ। जिसमे रोज लाखो जाने जा रही है,जिसके कारण समूची मानव जाति की कर्म-चेष्टा एक विशेष दशा मे प्रवाहित हो रही है; जिसके कारण अन्न का संकट है, मुद्रा-सकट है, जीवन-सकट है; हमारे मानो हरेक सांस पर जिसका प्रभाव है उस महती घटना को 'झगड़े' का नाम देकर टालने से क्या लाभ है ? असल युद्ध यह नही है, और चलिये युद्ध भी नही है, तो क्या हुआ। वह एक समस्या है जा हमें घोट रही है। इतिहास मानो यहां भवर म घूम रहा है। शताब्दियों से चली आती हुई परम्पराये ध्वस्त हो गई है। मानव जाति का भाग्य मानों एक महाकुण्ड में तपाया जा रहा है। आदमी जब से जनमा है ऐसा महोत्पात नही घटा। उस विभीषिका से बचकर और उसे नकली कहकर आपका धर्म-विचार यदि चल सकता है तो वह बुद्धि-विलास से अधिक क्या होगा ? हमें ऐसे किसी धर्म से क्या लाभ है जो आज की जलती समस्याओं से उदासीन है और तात्विक चर्चाओ में लीन है ?

उस प्रश्न से बेशक बचना नही है। सब धर्म-विचारको और प्रचारको को उसकी चुनौती है। धर्म यदि अलग है तो फिर उसे सदा के लिए अलग रहना होगा। यदि कोटि-कोटि मानवों के हित से और उनके सुख-दुःख से धर्म अलग और असंलग्न नही रह सकता है तो उसके सर-

क्षकों को उस चुनौती को झेलना होगा और जवाब देना होगा कि धर्मज्ञ और धार्मिक ऐसे विपत्ति के समय क्या करते और क्या करना चाहते हैं ?

यों तो हर देश का संस्थाबद्ध धर्म उस देश की सरकार का अनुमोदना करता देखा ही जाता है। वह तो उसकी चाकरी है। लेकिन ऊपर के प्रश्न की चोट उसके लिए है जो धर्म की सस्था पर निर्भर होकर नही जीता है, बल्कि जो धर्मयुद्ध मे समिधा की भाति हुत हो जाने की योग्यता पाना चाहता है ।

मै मानता हूँ कि बाहरी, यानी राजनैतिक, युद्ध विस्फोट है । कारण उनका अन्दर जमा होता रहता है । कारण को ही राजनैतिक समझना रोग के निदान में चूकना है । निदान के लिए गहरे जाना होगा । उसके लिए मानव और मानव के सम्बन्धो तक उतरना होगा। विधान प्रजातन्त्र है, राजतन्त्र है, अथवा उन दोनो का कुछ मेल है, या कि कोई नये प्रकार का अधिनायक तन्त्र है । इस विधान के तल से नीचे जाकर उस कीटाणु को ही पकड़ना होगा जो विष का मूल है । उसके लिए अत्यन्त वैज्ञानिक और तटस्थ वृत्ति से चलकर मनुष्य की मानसिकता मे पैठकर उस मूल द्वन्द्व को पाना होगा, जिसमे से स्वार्थलिप्सा का अकुर फूटता है ।

इस काम मे मार्क्स की समाजवादी विचार-धारा या इस दिशा के दार्शनिकों की भौतिक विचार-धारा पूरी तरह से मदद नही कर सकेगी। वह विचार-पद्धति अन्दर टटोलने की जरूरत नही पैदा करती । परिस्थिति में दोष ढूँढकर उसके निराकरण के लिए दल बनाकर राजनीति खड़ी करने की बात वह कहती है। मै व्यक्ति पर वह ध्यान नही देती ।

धर्म व्यक्ति की इकाई से आरम्भ होता है । इसलिए प्रारम्भ से ही वह व्यवहार्य है । धर्म की साधना है अपने को पर-हित यानी समाज-हित में घुला देना । क्रमश स्व–पर भेद धर्माभ्यासी के लिए मिटता जायगा और वह पर में स्व को देख सकेगा । इस तरह धर्म परमार्थ मे

स्वार्थ को आहूत, समर्पित और विलीन करने :
उस कीटाणु को निष्प्राण करता है जहां अर्थ-लिप्सा और शोषण-वृत्ति का मूल है ।

इस आधार पर कि धर्माचरणी वर्ग अक्सर संचयशील देखा जाता है, धर्म-भावना वैश्य-वृत्ति के साथ निभती अधिक पाई जाती है, धर्म-साधना को अनावश्यक और अनुपयोगी ठहराना भूल होगी। दूध से जले को छाछ तो छोड़ना ही नही चाहिए, दूध भी नही छोड़ना चाहिए, क्योंकि जलाने का गुण अग्नि का है दूध का नही। सच पूछिये तो उस धर्म-साधना के अभाव मे कलह-युद्धो को असम्भव नही बनाया जा सकेगा ।

इस भांति देखे तो प्राथमिक युद्ध अर्थात् धर्म-युद्ध उस स्वार्थ-युद्ध से ही है। वह युद्ध इतिहास के आदि से अब तक बराबर लड़ा जाता रहा है और संत-परम्परा उसी के योद्धाओं की परम्परा है। वह युद्ध संस्कृति का राजनीति से, अहिंसा का हिंसा से, श्रद्धा का शंका से, योग का भोग से और सेवा का स्वार्थ से है। एक ओर व्यक्ति की या समूह की अहंता है, दूसरी ओर सत्य का आग्रह या ईशनिष्ठा है । मनुष्य ईश्वर से विद्रोह करता है, किन्तु ईश्वर तो मनुष्य मे निहित ऐक्य भाव ही है। इस तरह वह स्वयं अपने खिलाफ लड़कर अपना ही ह्रास करता है। स्पष्ट है कि समष्टि-गत ऐक्य-चेतना अथवा भगवच्चेतना के विरुद्ध व्यक्ति के या समूह के अहभाव को टिकने के लिए स्थान नही है। फिर भी मनुष्य द्रोह ठानता ही है और स्वार्थ की लड़ाइयो को जन्म देता है।

पर नर के निमित्त से नारायण की लीला सम्पन्न होती है और प्रत्येक भौतिक युद्ध मे से मानव जाति आगे ही बढ़ती आई है। उन युद्धो की मदद से हमारी ऐक्य-कल्पना और ऐक्य-गठन उत्तरोत्तर उन्नत होता गया है। दुनिया के देश आपस में आज अपरिचित नही है और, वैर में ही क्यों न हो, वे परस्पर घनिष्ठ रूप से आबद्ध है। यह जाने-अन जाने ऐक्य की दिशा मे हमारे सतत प्रयाण के लक्षण हैं । और सच्चा

युद्ध वही है, वही हो सकता है, जो मानव के भीतर के अनैक्य को चुनौती और ऐक्य को गति दे। इसको अपनी सनातन भाषा में कहे तो वह आत्म-अनात्म का, जड़ चेतन का, युद्ध है। जडबद्ध होकर मनुष्य स्वार्थी बन गया है, चैतन्योदय के साथ उसमे परमार्थ-भावना जागती है।

इस परम और सनातन धर्म-युद्ध में हम अडिग आत्म-श्रद्धा के साथ चैतन्य के पक्ष में होकर जड़ स्वार्थों से मोर्चा लेते रहें, और चाहे उसमे देह जाये, कभी पराजय स्वीकार न करें, यही मानवोचित पुरुषार्थ है।

: १८ :

राम की युद्ध-नीति

इस महादेश की संस्कृति के दो ध्रुव हैं राम और कृष्ण। रामायण और महाभारत उन्ही के चरित कहिए। इन दो ग्रंथों के स्तम्भों पर चालीस कोटि मानवों की शताब्दियों का भाग्य टिका है।

माना जाता है कि यह संस्कृति विरागमय है। जीवन-दृष्टि उसकी निवृत्तिमूलक है। ब्रह्म सत्य और जग उसे मिथ्या है। महापुरुष उसे वह है जो ससार से विमुख एकान्त में आत्मा की जय साधता है। संसार उसे प्रपंच और मुक्ति ध्येय है। हर कीमत पर वह शान्ति चाहता है। अहिंसा उसे परमधर्म है। एक शब्द में, वह संस्कृति आधिभौतिक के विरोध मे आध्यात्मिक है।

और यह ग़लत भी नही है। भारत की विशेषता उसका इहलोक पर परलोक को प्रमुखता देना ही है।

पर उसी संस्कृति ने राम और कृष्ण को भगवान माना है और ये दोनों ही दो महायुद्धों के नायक हैं।

इस ऊपरी विरोध के भीतर जाकर उसके अर्थ को देखना होगा।

यह सच है कि भारत ने बड़े योद्धा को प्रतिष्ठा नही दी। चक्रवर्ती को भुला दिया और सन्त की वाणी को उसने याद रखा। महाविकट युद्ध एक दु:स्वप्न की विभीषिका से अधिक उसके लिए कुछ नही रहा। वह होकर बीत गया और भारत के जीवन पर कोई विकृति नही छोड़ गया। पर यह उससे भी अधिक सच है कि उसके मर्यादापुरुष राम हुए और कृष्ण

हुए, जो वन के महात्मा नही राज्यों के निर्माता थे और जो शान्ति मे और समाधान में नही, वरन् युद्ध मे और समस्याओ में जिये। कारण, भौतिक के घमसान नें उन्होने अध्यात्म के समत्व की और जगत्कर्म की विपुलता में ब्रह्मत्व की साधना सिद्ध की।

राम राजा थे; पर भगवान है। यानी राजा के रूप में वह व्यतीत हुए, भगवत-रूप मे ही वह शाश्वत होकर वर्तमान है।

देखना चाहिये कि क्या उनके युद्ध में भी भागवत-भाव देखा जा सकता है ?

वह युद्ध भौतिक था, लेकिन वह धर्मयुद्ध होकर ही भगवान राम का बना। अपने राज-कर्म और व्यक्ति-कर्म मे वह समष्टि चेतना से परिचालित थे—हिन्दू विश्वास ऐसा ही है। उसके निकट श्रीराम के कर्म पर समय की और स्थिति की इयत्ता नही है। मानो उनका युद्ध रावण नामक किसी व्यक्ति से न था,वह तो पुजीभूत असत् के प्रतीक रावण से था। भारत का समाज शताब्दियों के भीतर से इसी आस्था में राम-चरित के चहुंओर इतना कुछ जुटाता रहा है कि अमुक समय और देश में हुए इतिहासी राम काल-देश की सीमा से मुक्त होकर त्रिकाल-त्रिलोक के पुरुषोत्तम राम हो गये है उनका चरित्र एतिहासिक बोध का नही जिज्ञासु निकट आत्म-शोध का ही साधन बन उठा है। मानो कभी कही हुए राजा वह इतने नही, जितनें कि घट-घटवासी राम है !

यह कैसे हुआ ?

सामान्यत: आत्म-क्षेत्र और जगत्-क्षेत्र दो है। आत्म-जेता यम-नियम और दम-सयम के अस्त्रों से लडते है। वे धन-मान और बन्धु-बान्धव छोड़ अकेले बनते हैं। जगत्-योद्धा तीर-तलवार और दल-बल से लडते है और सत्ता-प्रभुता का विस्तार चाहते है। एक अहिंसा साधते, दूसरे नर्धा ठास्पते हैं।

दोनों की दो राहे है और उलटी है।

अब, नही कहा जा सकता कि लंका में लहू नही बहा। वहाँ शासक-

कुल में विभीषण के सिवा कौन दूसरा बच पाया ? ऐसे युद्ध के प्रेरक होकर राम फिर आर्य-संस्कृति के मान्य कैसे हुए ?

यहाँ यह कहना कि राम-चरित का युद्ध यथार्थ नहीं, सिर्फ रूपक है,बात से बचना होगा। रूपक तो वहाँ है ही। व्यक्ति राम मे प्रभु राम की प्रतिष्ठा के लिए रूपक तो आना ही था और भगवान राम से लडने वाले रावण के लिए दस सिर और बीस भुजाओ वाला अति-मानव भी बन उठना अनिवार्य था। जिससे भगवत-युद्ध अनीति के प्रतीक राक्षस से ही हो, अन्य किसी से नही।

पर इस सब लोकमान्यता और काव्यातिशय के, 'माइथालाजी' के, पार होकर विवेचक को राम की युद्ध-नीति की परख में जाना होगा। जानना होगा कि विजेता होकर भी सिकन्दर और 'सीज़र' को जिस मान से नापा जाता है उससे राम को हम क्यों नहीं नाप पाते ? क्यो वह नाप वहाँ ओछा पड़ जाता है ? राजा होकर, लडकर, जीतकर, अश्वमेध रचाकर, ऐश्वर्य से मण्डित होकर भी राम धर्म के तीर्थ और अध्यात्म के आदर्श कैसे बने हुए हैं ?

इस प्रश्न के उत्तर में उनकी युद्ध-नीति को परखना आवश्यक है। उस युद्ध की पृष्ठभूमि यह है अयोध्या के निर्वासित राजकुमार राम, अकिंचन, देह पर छाल पहने, पत्नी और भाई के साथ वन-पर्वत भटकते, फल-मूल खाते, सुदूर दक्षिण पहुंचे हैं। अयोध्या से यह जगह हजारों कोस के अन्तर पर है। सत्ता का या उसकी महिमा का अंश भी यहाँ उनके साथ नही है। वनजीवी है और पशुओं से स्नेह पाकर रहते हैं।

ऐसे समय रावण उनकी सीता को ले जाता है। रावण लंका का राजा है। वह अतुल बलशाली है। वह नराधिप है, राम नर-मात्र। वह सत्ता-सन्नद्ध है, राम एकाकी हैं। वह दुर्ग की रक्षा में है ,राम वनचारी है।

इन दो शक्तियों में युद्ध होता है। कारण बनता है सीता का अपहरण। सीता राम की भार्या है इसलिए नही, बल्कि लंकाधीश बल के मद में उन्हें बन्दी बनाये हुए हैं, इसलिए राम को लड़ना पड़ता है।

इस पृष्ठभूमि पर से उस युद्ध के बारे में हम ये परिणाम निकाल सकते है—

१. युद्ध का राजनैतिक हेतु न था।

२. राजनीति की ओर से राम सत्ता-शून्य थे। इससे आत्म-धर्म के नाते राम युद्ध में उतरे।

३. साधनहीन होकर सत्ताधीश से युद्ध ठानने में उन्होने उपकरण को हीन और संकल्प को सब कुछ माना।

४. वेतन-भोगी सेना उनके पास न थी।

५. नैतिक शक्ति उनकी शक्ति थी। अपने पक्षवालों को पुरस्कार, पद या प्रतिदान देने के बल पर सैन्य-सग्रह उन्होने नही किया।

६. युद्ध का नेतृत्व उन पर लौकिक प्रभुता नहीं, नैतिक निष्ठा और उच्चता के कारण आया और समूचा युद्ध उनकी ओर से उसी भूमिका पर रहकर चला।

युद्ध में राम की विजय का सम्पूर्ण नही तो अधिकांश कारण ऊपर की इस भूमिका में आजाता है। उससे प्रकट है कि उनकी युद्ध-नीति का सबसे प्रधान अश इस निश्चय मे था कि युद्ध का हेतु केवल और शुद्ध नैतिक ही है। वह तनिक भी लालसा,सत्ता और सम्पत्ति का युद्ध नही है।

आधार में इस धर्म-नीति की भूमिका का निश्चय होने के अनन्तर आगे भी उसकी निरन्तर रक्षा हो—राम की युद्ध-नीति की दूसरी चिन्ता यह मालूम होती है। यानी युद्ध का हेतु धार्मिक हो। इतना ही नही, उसकी प्रक्रिया और प्रतिक्रिया भी अनुरूप हो यह भी उनकी युद्ध नीति के विचार मे गर्भित था। साध्य की शुद्धता परखने के बाद साधनों को अनुकूल शुद्ध रखने की ओर वह युद्ध-नीति सावधान थी।

युद्ध लडने की इच्छा पर राम में सदा उससे बचने की इच्छा की प्रधानता रही। यानी युद्ध उनकी ओर से शाति-चेष्टा का ही अंग था। युद्ध के बीच भी उनकी नीति सधि का मार्ग खोजता रही थी। यानी

युद्ध-नीति भीतर से शांति-नीति से भिन्न न हो पाय, इसका ध्यान राम को था। अंगद उनकी ओर से रावण के पास संधि के लिए कुल इतनी शर्त लेगये थे कि सीता वापस लौटा दी जाय। लंकाधिपति के स्वत्व पर, प्रतिष्ठा पर, यहां तक कि मत-मान्यता पर किसी प्रकार के आरोप की बात उनकी युद्ध-नीति में नहीं आती थी।

युद्ध में विजय निकट दीखी तो भी आरम्भिक माग को और उसके मूल हेतु को बढाया नहीं गया। यानी आवेश और अकांक्षा का उस युद्ध-नीति से संबंध न था और विजय में अवसर देखने की वृत्ति न थी। विजय होने पर लंका के राज्य से अधिपतित्व का या और किसी तरह की प्रभुता का संबंध राम ने नहीं स्थापित किया। रावण के कुटुम्बी-जन विभीषण लंका के राजा हुए। विजेता ने कोई अपना स्वार्थ विजित देश में नहीं पैदा किया। किसी संधि के अनुसार लंका को अवध के प्रति झुकने की आवश्यकता कभी न हुई।

सैन्य-संचालन आदि के बारे में राम की युद्ध-नीति आत्यन्तिक उदासीनता की थी। यह उदासीनता प्रखर योद्धा राम की जय में कम महत्त्व की वस्तु न थी। वह काम तो सुग्रीव और लक्ष्मण का था। वह पक्ष मानो असल युद्ध-नीति से उनके निकट असंगत था। निश्चय उस संबंध में गुप्तभेद या छल-प्रयोग के वह विरुद्ध थे। युद्ध सीधा और ईमानदार और जान हथेली पर लेकर हो, इस पर उनका आग्रह था। रण में वह स्वयं सैनिक थे, पीछे से आज्ञा देने वाले सेनानी ही नहीं।

यह भी प्रमाणित है कि शत्रु के प्रति वह सहज सहानुभूति से काम लेते थे। यथाशक्ति हिंसा से बचते थे। एक की जान पर वह इतने भावुक हो आसकते थे कि समूचा युद्ध उन्हें व्यर्थ लग आये। यह व्यथा ही रण में उनके बल का मूल थी।

इस प्रकार युद्ध की प्रेरणा और हेतु में शुद्ध अराजनैतिक और धर्म-नैतिक भावना का निश्चय, संहार की सैन्य-कला के संबंध में आत्यन्तिक

उदासीनता, शत्रु के प्रति मानवीय सहानुभूति और शांति के मार्ग की सततशोध—ये उनकी युद्ध-नीति के मुख्य अंग कहे जा सकते हैं। यही कारण है कि वह युद्ध-विजेता हैं और धर्मावतार भी हैं। उनके उदाहरण में धार्मिक और राजनैतिक दोनों पक्ष के नेताओं के लिए प्रकाश है।

: २० :

श्रद्धाञ्जलि

रविबाबू हमारे बीच से उठ गये और आज उनके साहित्य पर नही स्वयम् उन पर ध्यान जाता है। साहित्य का अन्तरग क्या है? उसे मै सस्कृति कहूं और दूसरा कुछ और कह दे, पर वही असल है। रविबाबू के निधन पर मन में कुछ जिज्ञासा उठी है जो साहित्य के अन्तरंग में जाना चाहती है।

वह विश्व-कवि थे और दुनिया के बौद्धिक से अधिक आध्यात्मिक प्रहरी थे। मानवता के आदर्श को उन्होंने ऊँचा रखा। किसी राष्ट्रीयता या जातीयता से ग्रस्त नही होने दिया।

यूरोप मे युद्ध-घमासान मचा है। जाने उसमे से क्या भविष्य निकलेगा। भविष्य की उज्ज्वलता का विश्वास खोने का हक़ किसी को नही। फिर भी वर्तमान को देखकर जी काँपता ही है। इस रक्त-स्नान में से निकलकर मानवता क्या रुख लेगी, कहा नही जा सकता। पर रविबाबू से मन में दूसरा सवाल उठा है। जर्मनी रूस पर विजय पाने के लिए लाखों जानें खो रहा है और लाखों ले रहा है। अस्त्र-शस्त्र की हानि की तो गिनती क्या? लेकिन रविबाबू के निधन पर देख पड़ा कि उन्होने एक मुल्क के नही, तमाम दुनिया के हृदय को जीता था। सो कैसे सम्भव हुआ?

आज यही बड़ा सवाल है। जीतने की ठान-ठानकर कोई चलता है तो देखा जाता है कि हर क़दम पर प्रतिरोध है। मुल्क तो मुल्क, आदमी

से भी सीधे गर्दन नहीं झुकवायी जा सकती। शक्ति का ज़ोर दूसरी तरफ भी प्रतिरोध के ज़ोर को उभार देता है। कोई जीते जी बस मे नही आना चाहता। ऐसे विजेता मुर्दो की खोपडियों पर खड़े होकर ही अपने को विजेता कह सकता है। फिर उन खोपड़ियो के नीचे सुलगता वैर छिपा रहता है जिसमे से आगे जाकर उस विजेता का शत्रु पैदा होती है। हमारी आंखो के आगे शक्ति का युद्ध चल रहा है। वहाँ चप्पा-चप्पा ज़मीन सैकडो हज़ारो की जान बहाने पर ही जीती जा सकी है। फिर भी ज़मीन जीती जा सकी है आदमी नही, और वह विजय जाने किस छन पराजय बन जाय। इसमे सन्देह है कि उस प्रकार की विजय विजेता को भी आश्वासन देती है।

दूसरी ओर यह विजय देखता हूँ। यहाँ आपस मे होड़ है कि कौन अपनी श्रद्धा अधिक गाढी दिखा सके। यहाँ श्रद्धा के समर्पण मे राजा-प्रजा, राजनीतिक और साहित्यिक सब एक हो गये है। पत्रो मे हमने देखा तो कि सरकार के प्रथम प्रतिनिधि वायसराय के साथ सरकार के प्रथम विद्रोही गाधीजी की श्रद्धाञ्जलि छपी है।

उस विजय के विस्तार की ओर मुझे नही देखना है। उसकी प्रकृति से ही मुझे काम है। और मै मानता हूँ कि इस प्रकार की विजय, चाहे फिर उसकी व्याप्ति कितनी ही स्वल्प हो, सैनिक विजय से चाहे कि फिर वह कितनी ही महान हो, मेरे निकट अधिक कीमती है। कोई चाहे साम्राज्य बना दिखाये और पृथ्वी-खण्ड के तमाम भूपतियो को परास्त करके एक-छत्र चक्रवर्ती क्यो न बन जाये, पर वह बिल्कुल दूसरी चीज़ है। वह विजय के पहले प्रकार से एकदम भिन्न है और उसकी समता नही कर सकती।

रवीन्द्रबाबू के उपलक्ष से मेरा ध्यान उसी पद्धति की ओर जाता ह जिससे दूसरे के हृदय को जीता जाता है। मै सचमुच मानता हूँ कि सैनिक बहादुरी के बड़े-से-बड़े कारनामे से बड़ा करिश्मा वह ह जहाँ कि एक आदमी स्वेच्छापूर्वक दूसरे के आगे माथा झुकाता है; जहाँ जो

'माथा झुकता है, वह अपन झुकने के कारण अपने को उतना ही धन्य भी अनुभव करता है। इस दुनिया मे जहाँ अहंकारों की लड़ाई है, वहाँ इससे बड़ी और स्थायी विजय हो क्या सकती है कि आदमी अपने अहंकार को ऐसा जीते कि दूसरा कृतार्थ-भाव से आप ही उसके आगे झुक जाये। मै मानता हूँ कि यही सच्ची विजय है।

हाथ की ताकत को हम जानते है, उसके असर को जानते है। बुद्धि की ताकत को भी हम जानते है और वह यूरोप की लड़ाई मे देखी जा सकती है। पर रवि बाबू के उदाहरण मे जो ताकत काम कर रही है, वह दैहिक नही है, वह अस्त्र-शस्त्र की नही है और वह चतुराई की भी नही है। वह उनसे भिन्न है और अमोघ है। मै उसको आत्मा की ताक़त कह सकता हूँ।

वह नही दीखता लेकिन कैसे कहा जाय कि वह नही दीखती ? क्योकि वह नही तो रवि बाबू के प्रति विश्व के हार्दिक शोकोद्गार मे दूसरी और क्या चीज दीखती हुई मानी जा सकती है ? कोई आतंक से विजय पाये, उन्होने स्नेह से हृदयों को जीता। और जो जीता गया, उसे पता न चला कि वह विजित है, बल्कि उसने भी वैसा ही आह्लाद अनुभव किया कि जैसे वह स्वय विजेता हो। और यह सच है, क्योंकि सचमुच उस मार्ग से विजित सहज ही अपने दुर्द्धर्ष शत्रु अहकार पर विजय प्राप्त करता है।

एक कथा सुनी थी। एक मुनि से धोबी उलझ पड़ा। मुनि ने भी लिहाज़ न की। ऐसे जब मुनि पर मार पड़ी तो उन्होने ईश्वर को पुकारा। भगवान ने सेवकों को बुलाकर कहा—देखो, किन्ही मुनि पर सकट है, जाकर रक्षा करो। सेवक चला गया। लौटा, तो भगवान ने पूछा—क्या हुआ ? सेवक ने कहा कि महाराज, दोनों की हाथापाई मे मै तो जान ही न सका कि कौन मुनि है और कौन धोबी ?

यही बात है। असल युद्ध है मानव के भीतर के देवता का और दानव का। रवि बाबू की साधना देव-मार्ग की थी। इसीसे मै मानता

हूँ कि उसमें स्थायित्व है। मनुष्य जाति के विकास के इतिहास में उसका गणना होगी। वह ऊँचा उठाने वाली है। उससे अहंकार को उत्तेजन नही मिलता। स्नेह की व्यथा ही और गम्भीर होती है। उससे आदमी में ऋजुता बढती है और आपाधापी कम होती है।

प्रचार और अखबार के जमाने मे सहसा जान पड़ता है कि जीवन के महत्त्व-सम्पादन का उसे छोड़ दूसरा रास्ता नही है। जैसे नामवरी ही महत्ता हो। पर रवीन्द्र के उदाहरण से यह प्रकट हो जाना चाहिए कि यह भ्रम है। अखबारी शोर सत्य को दवाने के लिए और विज्ञापन-वाली प्रसिद्धि असलियत को ढके रहने के लिए है। पर सत्य के अपने ही नियम है और महत्त्व अत मे प्रकट होता ही है। प्रचार और डके का शोर अपने सिवा कुछ भी और न सुनने देने की कितनी ही कोशिश किया करे, हृदय की मौन-वाणी हृदय को एक अलक्ष्य तार के सहारे मिल ही जाती है। उसमें रव कम है, इसी से प्रभाव अधिक है। शाब्दिकता कम है, इसी से हार्दिकता उसमें से अनायास स्फुरित होती है।

रवि बाबू की कविता के पीछे मैं मानता हूँ कि स्नेह की और सहानुभूति की वही गहन व्यथा थी। उसी सुर से उनके शब्द पाठक के हृदय मे एक झनकार छोड जाते थे और पाठक अनायास ऋणी बनता था। उसकी अपनेपन की गाँठ इस सहानुभूति के सन्देश से जैसे घुल रहती थी। और अपने को खो रहने से बड़ी आत्मोपलब्धि क्या है, उससे बड़ा दूसरा आह्लाद क्या है?

मनष्य की इस सहानुभूति पर तरह-तरह के अहकारो की मर्यादा लदी होती है। कोई अपने सहधर्मी को प्रेम करता है, किन्तु उस प्रेम में ही चुनौती रहती है कि वह विधर्मी को न मिले। कोई देशवासी को स्नेह करता है, पर शर्त के साथ कि देश से बाहर के वासी को वह न पहुँच जाय। ऐसे जाति, सम्प्रदाय, राष्ट्र, धर्म और इस तरह के नाना भेद-विभेदो में मानव सहानुभूति का प्रवाह उलझकर रह जाता है। शायद रवि बाबू इन उलझनो से उबर सके थे। वह हिन्दुस्तानी थे और

हिंदुस्तान गुलाम है; फिर भी उनमें क्षमता थी कि हिंदुस्तान के सम्बन्ध में अंग्रेज में जो प्रभुता का दंभ है, वह उनकी दृष्टि से नीचे रह जाय और उस अंग्रेज को वह अपना सहज स्नेह दे सकें। मेरी कल्पना है कि रवि बाबू के उन्नत मस्तक को देखते किसा अंग्रेज को अपने इस अहंगर्व में सांत्वना नहीं मिली कि यह हमारा गुलाम ह। इस तरह स्वयम् अंग्रेज को स्वतन्त्रता—क्योंकि सच पूछा जाय ता अंग्रेज आज स्वतन्त्र नहीं हैं—का तथ्य अपनाने में उनसे मदद मिली। अंग्रेज आज उनसे सच्ची अन्तर्राष्ट्रीयता सीख सकता है। वह चाहे तो उनके उदाहरण से अपनी संकीर्ण अंग्रेजियत से उद्धार पा सकता है।

मैं मानता हूँ कि राष्ट्रीयता से अलग शुद्ध इन्सानियत का सदा पक्ष लेकर रवीन्द्र ने राष्ट्र और राष्ट्रीयता की बड़ी सेवा की। इसी से वह सच्चे राष्ट्र-प्रेमी थे। स्वयम् में स्वच्छ और सच्चे बनकर वह एक ही साथ सच्चे बगाली, सच्चे हिंदुस्तानी और सच्चे विश्व-नागरिक हो सके। अंग्रेजी पर किसी से कम उनका अधिकार न था, फिर भी सदा उन्होंने अपनी सहज भाषा बगला मे लिखा—अपनी धरती से, परम्परा से, अतीत से अपने को विच्छिन्न उन्होंने नही किया। किसी भाँति उन्हें कम आधुनिक नही कहा जा सकता, पर उन्ही से हमे उपनिषद-काल की भी झाँकी मिलती है। युग उनसे बिछुड़ नही सकता, क्योंक युग-युगानुमोदित सत्य में उनका अधिष्ठान था।

हमारी राजनीति हिंसा को लेकर चले और अपने तात्कालिक प्रयोजन साधने की सोचा करे पर उसकी प्रगति उन मूलभूत आधारों से टूट नही सकता, जिनकी सत्यता की साक्षी अनादि काल से द्रष्टाओं की एक सतत परम्परा द्वारा हमको मिलती रही है। प्रेम से विकास सधा है और हिंसा के जोर से किसी वर्ग का प्रयोजन भले सधता दीखे मानवता के हित की तो उससे हानि ही हो सकती है। इससे उन्नति का मार्ग वही है जहाँ दूसरे के व्यक्तित्व का दमन नहां किया जाता, अपने ही विकारों के शमन द्वारा दूसरों से साम्य और ऐक्य साधा जाता है। उसका नाम

है अहिंसा; और संस्कृति यदि प्रगति कर सकी है या करेगी तो अहिंसा के ही द्वारा।

अपना इस प्रतीति के साथ रवि बाबू की स्मृति में एक ऋणी मानव के नाते मे अपनी श्रद्धा भेंट करता हूँ।